गद्य-कुसुमावली

अर्थात्

बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०, के

चुने चुने लेखों का संग्रह

रायबहादुर बाबू हीरालाल, बी० ए०,

लिखित प्रस्तावना-सहित

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

तृतीय संस्करण] १९३० [मूल्य २)

गद्य-कुसुमावली

अर्थात्

बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०, के

चुने चुने लेखों का संग्रह

रायबहादुर बाबू हीरालाल, बी० ए०,

लिखित प्रस्तावना-सहित

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

तृतीय संस्करण] १९३० [मूल्य २)

FOREWORD

A critic, while speaking of the difference between the drama and the novel, remarks, "The drama is the most rigorous form of literary art; prose fiction is the loosest. It is a familiar fact that for the writing of a play a long preliminary discipline in technique and a thorough knowledge of the stage are requisite, while any one can write a novel who has pens, ink and paper at command, and a certain amount of leisure and patience." Almost similar ideas appear to have swayed the minds of Indian writers with reference to their choice between poetry and prose, and that is why very little was produced in prose. Even books on subjects like medicine or mathematics were written in verses. Prose was considered too commonplace to write anything on. The genius of the people or the genius of the age demanded something rhythmical or sing-song, something alliterative or artistic, and even the teaching of alphabets or multiplication tables was brought in line with it. There were story-tellers but they could not tell their stories without indulging in what appeared to be a measure of some kind howsoever crude. In such a soil ordinary prose could not flourish and it was the

exigencies of the foreigners who wanted to learn the spoken language, that stimulated compositions in prose. A century and a quarter ago Dr. John Gilchrist, the head of the Fort William College at Calcutta, got two books translated from Sanskrit into Hindi which paved the way for prose literature in what is called *khari boli*. It has now acquired a distinct place for itself. A large number of books on history, geography, biography, drama and novels have been written, besides religion and some branches of science, but the science of language itself remained almost untouched. Within the last two years Professor Syamsundardas has filled up the lacunæ with his two excellent works, *viz.*, Sahitya-lochana, a book on literary criticism, and Bhasha-vijnana on philology with special reference to Hindi. Both these books called forth the high commendation of the well-known Hindi scholars, including Sir George Grierson, the highest living authority on Indian languages.

The book in hand 'Gadya-Kusumavali' is merely a compilation from Babu Syamsundardas's previous compositions. The first three chapters are taken from his Sahitya-lochana and the next two from Bhasha-vijnana, followed by three others, one of which is taken from his Presidential address at the 6th Hindi Sammelan. The first three chapters deal

with literature in general, the next three with language and the last two with the notice of two great Hindi poets. In fact the book in hand gives a survey of the Hindi language in its critical, philological, poetical and social aspects, and is thus pre-eminently suited for study in the higher classes of a university. Since several universities have recently recognised Hindi literature as a subject for higher class examinations, I feel no doubt that they would welcome the appearance of such a work, which will fill some of the gaps in their syllabi.

Babu Syamsundardas has been a writer of Hindi since his school-days. It was 32 years ago that he along with his companions started the Nagari-Pracharini Sabha, which has published a number of valuable works and brought to light through its Search Department about 4,000 Hindi works, on whose basis the histories of Hindi literature have been and are being written. His personal contributions to Hindi literature number about 55, from which the Gadya-Kusumavali brings together the result of his deep study during his mature years.

JUBBULPORE,
22nd October, 1925. }

HIRALAL.

प्रस्तावना

"अच्छे ग्रंथों के गुण समझना कोई सहज काम नहीं है और यही कारण है कि उसके अध्ययन से बहुत कम लोग प्रसन्न होते हैं और जो लोग थोड़ा बहुत प्रसन्न होते भी हैं, वे बहुधा उनके छोटे मोटे गुणों को ही देखकर प्रसन्न होते हैं। इनमें भी बहुत से लोग ऐसे होते हैं जो यह मानने के लिये जल्दी तैयार ही नहीं होते कि हममें इस ग्रंथ के समझने की योग्यता नहीं है अथवा उसके विषय से हमारा परिचय नहीं है। परंतु उचित यही है कि हम किसी ग्रंथ के छोटे मोटे गुणों से ही संतुष्ट होकर न रह जायँ और उसमें भली भाँति अवगाहन करके उसके उत्कृष्ट गुणों से परिचित होने का उद्योग करें। किसी पुस्तक के संबंध में अपना विचार या मत स्थिर करने के लिये हमें वह पुस्तक कई बार पढ़नी चाहिए। यदि प्रत्येक बार पढ़ने में कुछ और अधिक आनंद आवे, यदि प्रत्येक बार के पारायण में हमें उसके कुछ विशेष गुणों और उत्तमताओं का परिचय मिले तो हमें समझ लेना चाहिए कि यह ग्रंथ बहुत अच्छा और ध्यान-पूर्वक पढ़ने योग्य है।" ये वाक्य स्वयं इस गद्य-कुसुमावली के रचयिता के हैं जो ४७ वर्ष की प्रौढ़ अवस्था में, दो ही वर्ष पूर्व, उनके 'साहित्यालोचन'

में लिखे गए थे। इस गद्य-कुसुमावली के प्रथम तीन अध्याय उसी पुस्तक से उद्धृत किए गए हैं। ऊपर लिखी कसौटी, अनेक ग्रंथ पठन-पाठन के पश्चात्, स्थिर की गई है। इसको उनके अनुभव का निचोड़ समझना चाहिए। बात कोई नवीन नहीं है, बहुतेरों ने इस विषय का मथन किया है और वे इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। जिस अभिप्राय से यह कुसुमावली रची गई है उसका मूल तत्त्व ही अनेक बार पारायण है। यह संकलन हिंदी की उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिये किया गया है, इसलिये अनेक बार दुहराने से उसके गुण-दोषों की जाँच के लिये विशेष अवसर है। सर्व साधारण को तो इसकी परीक्षा करने का पर्याप्त अवसर मिल चुका है और विविध पत्रिकाओं में इसकी आलोचनाएँ भी प्रकाशित हो चुकी हैं।

इस गद्य-कुसुमावली में तीन गुच्छे दीखते हैं। प्रथम गुच्छे में तीन सुमनों द्वारा ललित कलाओं का परिचय कराते हुए सबसे श्रेष्ठ "काव्य" कला का महत्त्व दिखलाया गया है। यथार्थ में काव्य किसे कहना चाहिए, इसकी मीमांसा बड़ी कठिन है। लब्धप्रतिष्ठ लेखक और स्वयं महाकवि-वर्ग भी "काव्य" की त्रुटिहीन परिभाषा नहीं दे सके। लेखक ने उनके मतों का विवेचन बड़ी बारीकी से किया है और अपना सिद्धांत यों प्रगट किया है—"कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। राग से हमारा अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति

के मूल में रहनेवाली अंत:करण-वृत्ति से है।" इसे विस्तार-पूर्वक समझाने का प्रयत्न किया गया है। उसकी सत्यता मनन करने से ही स्थिर की जा सकेगी। यह ऐसा गहन विषय है कि इसमें व्यक्तिगत मत उपयोगी नहीं हो सकता; केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि जब तक इससे अधिक श्रेय व्याख्या उपलब्ध न हो तब तक वह मानने योग्य है।

इन तीन अध्यायों में केवल काव्य की वैज्ञानिक परिभाषा ही का बोध नहीं कराया गया, वरन सच्ची कविता के लक्षण, उसका स्वरूप, लिखने की शैली, और अलंकार आदि का परिचय चित्ताकर्षक सुंदरता के साथ करवा दिया गया है। इस प्रकार काव्य की अंतरात्मा और परिधान का ज्ञान कराते हुए दोनों के योग से किस प्रकार सजीव मूर्ति खड़ी हो जाती है उसका साक्षात् करा दिया गया है। भारतवर्ष अलंकारों का रसिक रहा है। उनकी इतनी संख्या बढ़ गई है कि यथार्थ तत्त्व की दशा बुद्ध के दंत की सी हो रही है। लंका के कैंडी नगर में तथागत का एक दाँत रक्खा है जिस पर अनेक चमकीले हीरों से जटित बहुमूल्य आच्छादन इस प्रकार से डाल दिए गए हैं कि किसी को स्वप्न में भी अनुमान नहीं हो सकता कि उसके भीतर दाँत होगा। कई भारतीय कवियों ने अपने बहुमूल्य काव्यों की अंतरात्मा को इसी प्रकार के झिलमिलाते हुए अलंकारों से ढाँप दिया है कि सिवा अंतरंग पुजारियों के किसी को उसके दर्शन ही नहीं हो पाते। "अति सर्वत्र

वर्जयेत्"। इन सब बातों का विचार इस अध्याय-समूह में यथोचित रीति से किया गया है।

द्वितीय गुच्छे की पुष्पत्रयी हिंदी में एक नवीन विषय का समावेश कराती है जो भाषा और विशेष कर हिंदी के विकास से संबंध रखता है। देशी सड़कों पर गाड़ी की लीक बहुत गहरी पड़ती है। उसका मिटाना कठिन काम है। किसी ने कह दिया कि हिंदी की जननी संस्कृत है फिर क्या है, यदि कोई उसके विरुद्ध कहता है तो जननीघातक होता है। इस प्रकार के भय से इस देश में लीक की गहराई दिन प्रति दिन बढ़ती जाती है, फिर किसकी हिम्मत है कि उसे पूर सके। यद्यपि प्राचीन वैयाकरणों और लेखकों की पुस्तकों में पर्याप्त सामग्री मौजूद थी परंतु जब तक विदेशियों ने सुझाया नहीं तब तक किसी ने इस विषय पर कुछ ध्यान ही नहीं दिया। कुसुमावली के लेखक ने गत वर्ष ही "भाषा-विज्ञान" नामक पुस्तक लिखकर इस न्यूनता की बहुत कुछ पूर्ति कर दी। द्वितीय गुच्छे के प्रथम दो पुष्प इसी पुस्तक से उद्धृत किए गए हैं। इनके पढ़ने से भली भाँति समझ में आ जायगा कि भाषा क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे हुई। इन अध्यायों में विशेष कर हिंदी भाषा की यथार्थ उत्पत्ति का बोध करा दिया गया है। अब हिंदी के दिग्गज पंडित भी स्वीकार करने लगे हैं कि हिंदी को संस्कृत की दुहिता कहना उसी प्रकार की भूल है जैसी जैन धर्म को हिंदू धर्म का एक पंथ मानना। जैनी और

हिंदू वैश्यों में खाना पीना या विवाह हो जाने से जिस प्रकार जैन धर्म हिंदू धर्म की शाखा नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार हिंदी कोश में बहुत से संस्कृत शब्द मिलने से हिंदी भाषा संस्कृत की ज्येष्ठ पुत्री नहीं ठहराई जा सकती। अब सिद्ध कर दिया गया है कि जिन भाषाओं से हिंदी निकली है उनका और परिमार्जित संस्कृत का उद्‌गमस्थान एक ही हैं। हिंदी विकास की खोज के लिये अभी क्षेत्र खुला है। चित्त लगाकर प्रयत्न करने से कई गूढ़ बातों पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस गुच्छे का तीसरा पुष्प छठे हिंदी साहित्य-सम्मेलन के सभापति की वक्तृता से लिया गया है। वह भी ग्रंथकर्ता की उक्ति है। उसमें सयुक्ति बतलाया गया है कि समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर निर्भर है अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का कारण साहित्य है। किसी भी जाति के साहित्य को देखने से ही उसकी सामाजिक अवस्था का पता लग जाता है इसलिये अपनी मातृ-भाषा के साहित्य की वृद्धि करना परमावश्यक है।

तृतीय गुच्छे में कुसुम नहीं बरन सुमन-फल-छाया-समन्वित दो महावृक्ष खड़े दिखाई पड़ते हैं। पहला आँख डालते ही निरा स्तंभ सा जान पड़ता है परंतु ऊपर की ओर नजर फेंकने से प्रशस्त मनोहर पत्रयुक्त छत्र सा दिखाई पड़ता है। यह महावृक्ष चंद बरदाई है। वह हिंदी भाषा का व्यास या वाल्मीकि कहा जा सकता है। उसकी कविता के विषय में

अनेक विवाद खड़े किए गए हैं और कई विद्वानों ने यह भी कह डाला है कि उसका "पृथ्वीराजरासो" सोलहवीं शताब्दी का रचा हुआ जाल है। ग्रंथकर्त्ता की समालोचना से सिद्ध हो जायगा कि यह केवल भ्रम है। रासो की भाषा ही गवाही देती है कि वह पुस्तक सोलहवीं सदी की रचना नहीं हो सकती। यह अलग बात है कि कई स्वार्थी लोगों ने अपनी योग्यता बतलाने या अपने स्वामियों की कीर्त्ति बढ़ाने के लिए अथवा अन्य कारणों से प्रेरित हो यत्र तत्र क्षेपक भर दिए हों जैसा कि उन्होंने महाभारत और रामायण तक में कर डाला है, परंतु इन बरोहों के उगने से मूल का नाश नहीं होता। इसमें संदेह नहीं कि क्षेपक-लेखक ऐसा मिश्रण करते हैं जैसा कि किसी ने क्षीर में नीर मिला दिया हो; परंतु बहुत से चतुर हंस ऐसे भी मिलते हैं जो इस मिश्रण का पृथक्करण कर सकते हैं। इस प्रकार की सूक्ष्म परीक्षा से सिद्ध होता है कि चंद बरदाई "पृथ्वीराजरासो" का रचयिता अवश्य था और वही हिंदी का आदि-कवि कहलाने योग्य है।

द्वितीय महावृक्ष तुलसीदास हिंदी का कल्पद्रुम है। उसमें जिधर देखो तिधर मीठे और सुगंधित फल फूल दृष्टिगोचर होते हैं। प्रथम गुच्छे में जो काव्य के गुण बतलाए गए हैं उसका साक्षात् रूप इस गुच्छे, नहीं क्यारी, में खड़ा कर दिया गया है। न जाने कितने लोगों ने तुलसीदास की कविता पर प्रशंसात्मक लेख लिखे हैं परन्तु यह विषय प्रातःकाल की वायु के

समान सदैव ताजा ही जान पड़ता है। इस लेख में केवल कविता ही की समालोचना नहीं की गई परंतु तर्क सहित खोज के साथ कवि की जीवनी पर नवीन प्रकाश डाला गया है जिससे जान पड़ता है कि तुलसीदास की मृत्यु प्लेग से हुई। कई नई बातें रघुबरदास लिखित "तुलसी-चरित्र" से प्रकट होती हैं। इस नवीन ग्रंथ का उल्लेख मिलता है जिससे पता चलता है कि परिमाण में यह महाभारत की समता करता है। उसकी छंद-संख्या १,३३,९६२ बताई गई है। महाभारत की श्लोक-संख्या अधिक से अधिक १,१०,५४५ बतलाई जाती है। तुलसी-चरित की कविता भी चरित्र-नायक की कविता से टक्कर लेती है। रघुबरदास तुलसीदास का शिष्य था, उसके ग्रंथ की जाँच पूरी तौर से अभी तक नहीं हो पाई। यदि ऐतिहासिक कसौटी से इसका वृत्तांत खरा निकला तो तुलसी-विषयक अनेक बातों में बहुत हेर फेर पड़ जायगा।

अंत में ऊपर वर्णित अष्ट कुसुम के विकास करनेवाले का भी परिचय करा देना आवश्यक जान पड़ता है। व्यक्तित्व भी कोई वस्तु है जिसकी मोहर लगने से साख चलने लगती है। हिंदी साहित्य-क्षेत्र में बाबू श्यामसुंदरदास की छाप लगने से प्रामाणिकता का आभास आपसे आप उपस्थित हो जाता है। आपने संवत् १९३२ वि० में जन्म ग्रहण किया और बाल्य-काल ही से आडंबर की ओर अरुचि दिखा शुक्ल परिधान को

श्रेय दिया। वही उनकी कुसुमवाटिका में दिखाई पड़ता है। छात्रावस्था ही में उनका ध्यान हिंदी की सेवा के प्रति आकृष्ट हुआ और उन्होंने १६ जुलाई सन् १८९३ ई० में काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना की जब कि वे इंटरमिडियेट क्लास में पढ़ते थे। अब यह सभा लड़कों की अस्थिर सभा नहीं रही, इसने अब भारतवर्ष में अपनी जड़ पक्की जमा ली है और हिंदी की उन्नति-संबंधी कई बड़े बड़े काम कर डाले हैं। हिंदी के अनेक अच्छे अच्छे ग्रंथ बाबू श्यामसुंदरदास के संपादकत्व में प्रकाशित हुए हैं और होते जाते हैं। "हिंदी-शब्दसागर" नामक एक बृहत् कोश तैयार किया गया है जो शीघ्र ही पूरा हो जायगा। इसके सिवा एक हिंदी भाषा का बृहत् व्याकरण और एक हिंदी वैज्ञानिक कोश प्रस्तुत करवाया गया है जिसकी सहायता से भूगोल, ज्योतिष, अर्थशास्त्र, रसायनशास्त्र, गणितशास्त्र, पदार्थविज्ञान तथा दर्शनशास्त्र के वैज्ञानिक शब्दों का अनुवाद हिंदी में सरलता से किया जा सकता है। इस कोश के तैयार करने में सात वर्ष लगे। इसी से इस कार्य की कठिनता और महत्त्व का अनुमान किया जा सकता है। सभा द्वारा एक उच्च कोटि की पत्रिका कोई २८ वर्ष से निकल रही है। यह कभी मासिक और कभी त्रैमासिक रूप में निकलती रही। वर्तमान रूप त्रैमासिक है। इसमें अब प्राचीन शोध संबंधी लेख निकलते हैं। सन् १८९९ ई० से हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज आरंभ हुई जिससे कई

सहस्र पुस्तकों का पता लगा है। इनके विषय में कोई ६ वार्षिक और ५ त्रैवार्षिक रिपोर्टें तैयार की गई हैं जो साहित्य-सेवियों के लिये बहुत ही उपयोगी हैं। इनमें से ६ वार्षिक और एक त्रैवार्षिक रिपोर्ट बाबू साहब की कलम से निकली हैं। संयुक्तप्रांत की कचहरियों में हिंदी का प्रचार, पुरस्कार इत्यादि द्वारा नवीन हिंदी-ग्रंथ-रचना की उत्तेजना आदि नागरी-प्रचारिणी सभा के अन्य कृत्य हैं। इन सब कामों में से अधि-कांश में बाबू श्यामसुंदरदास का हाथ रहा है। सभा ने बत्तीस वर्ष में कोई साढ़े तीन लाख रुपया एकत्र किया और खर्च कर डाला। उसके हाथ में इस समय प्रायः पौने दो लाख की संपत्ति—सभाभवन, पुस्तकालय इत्यादि के रूप में—काशी में विद्यमान है।

बाबू साहब सदैव काशी में नहीं रहे। सन् १८९७ ई० में बी० ए० की परीक्षा पास करने के पश्चात् जीविका के संबंध से ३ साल कश्मीर में और ८ साल लखनऊ में रहे, परंतु उनका प्रेम अपनी सभा से कभी घटा नहीं बरन उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। बाबू साहब ने विशेष कर शिक्षा-विभाग ही में काम किया और जहाँ जहाँ रहे वहाँ वहाँ उन्होंने वृद्धि बतलाकर यश प्राप्त किया। सन् १९२१ ई० से वे काशी-विश्वविद्यालय में हिंदी के प्रोफेसर (अध्यापक) हैं। उन्होंने स्वयं कोई ५५ ग्रंथों का संपादन, संकलन या निर्माण किया है जिनमें से कई एक काशी, प्रयाग और नागपुर के

विश्वविद्यालयों में बी० ए० और एम० ए० के विद्यार्थियों को पढ़ाए जाते हैं। बाबू साहब की भाषा पुष्ट, ओजस्विनी, और ललित होती है तथा उसमें तत्सम शब्दों की अधिकता होती है।

हीरालाल

लेख-सूची

रायसाहब बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०

गद्य-कुसुमावली

(१) ललित कलाएँ और काव्य

सृष्टि की उपयोगिता और सुंदरता

प्राकृतिक सृष्टि में जो कुछ देखा जाता है, किसी न किसी रूप में वह सभी उपयोग में आता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं है जिसमें उपादेयता का गुण वर्तमान न हो। यह संभव है कि बहुत सी वस्तुओं के गुणों को हम अभी तक न जान सके हों, पर ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, हम उनके गुणों को अधिकाधिक जानते जाते हैं। प्राकृतिक पदार्थों में उपयोगिता के अतिरिक्त एक और भी गुण पाया जाता है। वह उनका सौंदर्य्य है। फल-फूलों, पशु-पक्षियों, कीट-पतंगों, नदी-नालों, नक्षत्र-तारों आदि सभी में हम किसी न किसी प्रकार का सौंदर्य्य पाते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संसार में अनुपयोगिता और कुरूपता का अस्तित्व ही नहीं। उपयोगिता और अनुपयोगिता, सुरूपता और कुरूपता सापेक्षिक गुण हैं। एक के अस्तित्व से ही दूसरे का

अस्तित्व प्रकट होता है। एक के बिना दूसरे गुण का भाव ही मन में उत्पन्न नहीं हो सकता। पर साधारणतः जहाँ तक मनुष्य की सामान्य बुद्धि जाती है, प्रकृति में उपयोगिता और सुंदरता चारों ओर दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार मनुष्य द्वारा निर्मित पदार्थों में भी हम उपयोगिता और सुंदरता पाते हैं। एक झोपड़ी को लीजिए। वह शीत से, आतप से, वृष्टि से, वायु से हमारी रक्षा करती है। यही उसकी उपयोगिता है। यदि उस झोपड़ी के बनाने में हम बुद्धि-बल से अपने हाथ का अधिक कौशल दिखाने में समर्थ होते हैं तो वही झोपड़ी सुंदरता का गुण भी धारण कर लेती है। इससे उपयोगिता के साथ ही साथ उसमें सुंदरता भी आ जाती है।

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुंदरता आती है उसकी 'कला' संज्ञा है। कला के दो

कला और उसके विभाग

प्रकार हैं—एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में बढ़ई, लुहार, सुनार, कुम्हार, राज, जुलाहे आदि के व्यवसाय सम्मिलित हैं। ललित कला के अंतर्गत वास्तु-कला, मूर्त्ति-कला, चित्र-कला, संगीत-कला और काव्य-कला—ये पाँच कला-भेद हैं। पहली अर्थात् उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और दूसरी अर्थात् ललित कलाओं के द्वारा उसके अलौकिक

आनंद की सिद्धि होती है। दोनों ही उसकी उन्नति और विकास के द्योतक हैं। भेद इतना ही है कि एक का संबंध मनुष्य की शारीरिक और आर्थिक उन्नति से है और दूसरी का उसके मानसिक विकास से।

यह आवश्यक नहीं कि जो वस्तु उपयोगी हो वह सुंदर भी हो, परंतु मनुष्य सौंदर्योपासक प्राणी है। वह सभी उपयोगी वस्तुओं को यथाशक्ति सुंदर बनाने का उद्योग करता है। अतएव बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो उपयोगी भी हैं और सुंदर भी हैं; अर्थात् वे दोनों श्रेणियों के अंतर्गत आ सकते हैं। कुछ पदार्थ ऐसे भी हैं जो शुद्ध उपयोगी तो नहीं कहे जा सकते, पर उनके सुंदर होने में संदेह नहीं।

खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने, रहने, बैठने, आने, जाने आदि के सुभीते के लिये मनुष्य को अनेक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उपयोगी कलाएँ अस्तित्व में आती हैं। मनुष्य ज्यों ज्यों सभ्यता की सीढ़ी पर ऊपर चढ़ता जाता है, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं। इस उन्नति के साथ ही साथ मनुष्य का सौंदर्य-ज्ञान भी बढ़ता है और उसे अपनी मानसिक तृप्ति के लिये सुंदरता का आविर्भाव करना पड़ता है। बिना ऐसा किये उसकी मनस्तृप्ति नहीं हो सकती। जिस पदार्थ के दर्शन से मन प्रसन्न नहीं होता वह सुंदर नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि भिन्न भिन्न देशों के लोग अपनी

अपनी सभ्यता की कसौटी के अनुसार ही सुंदरता का आदर्श स्थिर करते हैं, क्योंकि सबका मन एक सा संस्कृत नहीं होता।

ललित कलाओं का आधार

ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं—एक तो वे जो नेत्रेंद्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं, और दूसरी वे जो श्रवणेंद्रिय के सन्निकर्ष से उस तृप्ति का साधन बनती हैं। इस विचार से वास्तु (मंदिर-निर्माण), मूर्त्ति (अर्थात् तक्षण-कला) और चित्र-कलाएँ तो नेत्र द्वारा तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा श्रव्य काव्य कानों के द्वारा*। पहली कला में किसी मूर्त्त आधार की आवश्यकता होती है, पर दूसरी में उसकी उतनी आवश्यकता नहीं होती। इस मूर्त आधार की मात्रा के अनुसार ही ललित कलाओं की श्रेणियाँ, उत्तम और मध्यम, स्थिर की गई हैं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम रहेगा, उतनी ही उच्च कोटि की वह समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्य-कला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं, क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण

* काव्य के दो भेद हैं—श्रव्य और दृश्य। रूपकाभिनय अर्थात् दृश्य काव्य आँखों का ही विषय है। कान और नेत्र दोनों से उसकी उपलब्धि होती अवश्य है, पर उसमें दृश्यता प्रधान है। शकुंतला को सामने देख और उसके मुख से उसका वक्तव्य सुन, दोनों के योग से हृदय में जिस आनंद का अनुभव होता है, वह केवल पुस्तक में लिखा हुआ उसका वक्तव्य सुन कर नहीं होता।

अभाव रहता है और इसी के अनुसार हम वास्तु-कला को सबसे नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार को सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-कला को कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्त्ति-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है; परंतु मूर्त्तिकार किसी प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है जो उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड में सजीवता की अनुरूपता उत्पन्न कर देता है। मूर्त्ति-कला के अनंतर तीसरा स्थान चित्र-कला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और मुटाई होती है। वास्तुकार अर्थात् भवन-निर्माण-कर्त्ता और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिये मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है; परंतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिये लंबाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मुटाई तो चित्र में नाम मात्र ही को होती है। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित-कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का प्रतिबिंब अंकित कर देता है जो असली वस्तु के रूप रंग आदि के समान ही देख पड़ता है।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। संगीत में नाद-परिमाण अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह (उतार-चढ़ाव) ही उसका मूर्त आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अंतिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्य-कला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रादुर्भाव शब्द-समूहों या वाक्यों से होता है, जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता; पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य-रूप मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्य-कला में पाश्चात्य काव्य-कला की अपेक्षा नाद-रूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है। पर यह अर्थ की रमणीयता के समान काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्य-कला का प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

ललित कलाओं के आधार तत्त्व

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे ललित कलाओं के संबंध में नीचे लिखी बातें ज्ञात होती हैं—(१) सब कलाओं में किसी न किसी प्रकार के आधार की आवश्यकता होती है। ये आधार ईंट-पत्थर के टुकड़ों से लेकर शब्द-संकेतों तक हो सकते हैं। इस लक्षण में अपवाद इतना ही है कि अर्थ-रमणीय काव्य-कला में इस आधार का अस्तित्व नहीं रहता।

(२) जिन उपकरणों द्वारा इन कलाओं का सन्निकर्ष मन से होता है, वे चक्षुरिंद्रिय और कर्णेंद्रिय हैं। (३) ये आधार और उपकरण केवल एक प्रकार के मध्यस्थ का काम देते हैं जिनके द्वारा कला के उत्पादक का मन देखने या सुननेवाले के मन से संबंध स्थापित करता है और अपने भावों को उस तक पहुँचाकर उसे प्रभावित करता है; अर्थात् सुनने या देखनेवाले का मन अपने मन के सदृश कर देता है। अतएव यह सिद्धांत निकला कि ललित कला वह वस्तु या वह कारीगरी है जिसका अनुभव इंद्रियों की मध्यस्थता द्वारा मन को होता है और जो उन बाह्यार्थों से भिन्न है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान इंद्रियाँ प्राप्त करती हैं। इसलिए हम कह सकते हैं कि **ललित कलाएँ मानसिक दृष्टि** में सौंदर्य का प्रत्यक्षीकरण हैं।

इस लक्षण को समझने के लिये यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक ललित कला के संबंध में नीचे लिखी तीन बातों पर विचार करें—(१) उनका मूर्त आधार; (२) वह साधन जिसके द्वारा यह आधार गोचर होता है; और (३) मानसिक दृष्टि में नित्य पदार्थ का जो प्रत्यक्षीकरण होता है वह कैसा और कितना है।

वास्तु-कला में मूर्त आधार निकृष्ट होता है अर्थात् ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि जिनसे इमारतें बनाई जाती हैं।

वास्तु-कला

ये सब पदार्थ मूर्त हैं, अतएव इनका प्रभाव आँखों पर वैसा ही पड़ता है जैसा कि किसी दूसरे मूर्त पदार्थ का पड़ सकता है। प्रकाश,

छाया, रंग, प्राकृतिक स्थिति आदि साधन कला के सभी उत्पादकों को उपलब्ध रहते हैं। वे उनका उपयोग सुगमता से करके आँखों के द्वारा दर्शक के मन पर अपनी कृति की छाप डाल सकते हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो उन्हें जीवित पदार्थों की गति आदि प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं होती; दूसरे उनकी कृति में रूप, रंग, आकार आदि के वे ही गुण वर्तमान रहते हैं जो अन्य निर्जीव पदार्थों में रहते हैं। यह सब होने पर भी जो कुछ वे प्रदर्शित करते हैं, उनमें स्वाभाविक अनुरूपता होने पर भी मानसिक भावों की प्रति-छाया प्रस्तुत रहती है। किसी इमारत को देखकर सज्ञान जन सुगमता से कह सकते हैं कि यह मंदिर, मसजिद या गिर्जा है अथवा यह महल या मक़बरा है। विशेषज्ञ यह भी बता सकते हैं कि इसमें हिंदू, मुसलमान अथवा यूनानी वास्तु-कला की प्रधानता है। धर्म-स्थानों में भिन्न भिन्न जातियों के धार्मिक विचारों के अनुकूल उनके धार्मिक विश्वासों के निदर्शक कलश, गुंबज, मिहराबें, जालियाँ, झरोखे आदि बनाकर वास्तुकार अपने मानसिक भावों को स्पष्ट कर दिखाता है। यही उसके मानसिक भावों का प्रत्यक्षीकरण है। परंतु इस कला में मूर्त पदार्थों का इतना बाहुल्य रहता है कि दर्शक उन्हीं को प्रत्यक्ष देखकर प्रभावित और आनंदित होता है, चाहे वे पदार्थ वास्तु-कार के मानसिक भावों के यथार्थ निदर्शक हों, चाहे न हों; अथवा दर्शक उनके समझने में समर्थ हो या न हो।

मूर्ति-कला में मूल आधार पत्थर, धातु, मिट्टी या लकड़ी आदि के टुकड़े होते हैं जिन्हें मूर्तिकार काट छाँटकर या ढालकर अपने अभीष्ट आकार में परिणत करता है। मूर्तिकार की छेनी में असली सजीव या निर्जीव पदार्थ के सब गुण अंतर्हित रहते हैं। वह सब कुछ, अर्थात् रंग, रूप, आकार आदि प्रदर्शित कर सकता है; केवल गति देना उसके सामर्थ्य के बाहर रहता है, जब तक कि वह किसी कल या पुर्ज़े का आवश्यक उपयोग न करे। परंतु ऐसा करना उसकी कला की सीमा के बाहर है। इसलिये वास्तुकार से मूर्तिकार की स्थिति अधिक महत्त्व की है। उसमें मानसिक भावों का प्रदर्शन वास्तुकार की कृति की अपेक्षा अधिकता से हो सकता है। मूर्तिकार अपने प्रस्तर-खंड या धातुखंड में जीवधारियों की प्रतिछाया बड़ी सुगमता से संघटित कर सकता है। यही कारण है कि मूर्ति-कला का मुख्य उद्देश्य शारीरिक या प्राकृतिक सुंदरता को प्रकाशित करना है।

मूर्ति-कला

चित्र-कला का आधार कपड़े, कागज, लकड़ी आदि का चित्र-पट है, जिस पर चित्रकार अपने ब्रश या कलम की सहायता से भिन्न भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। परंतु मूर्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का आश्रय कम रहता है। इसी से

चित्र-कला

उसे अपनी कला की ख़ूबी दिखाने के लिये अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपने ब्रश या कलम से, समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, लघुता, दूरी और नैकट्य आदि दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असली वस्तु सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में चित्रकार को केवल उस घटना या दृश्य के बाहरी अंगों को ही जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, किंतु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिये, अपना ब्रश चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्त्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का बहुत अधिक होता है।

यहाँ तक तो उन कलाओं के संबंध में विचार किया गया, जो आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। अब

अवशिष्ट दो ललित कलाओं, अर्थात् संगीत और काव्य पर विचार किया जायगा, जो कर्ण द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती हैं। इन दोनों में मूर्त आधार की न्यूनता और मानसिक भावना की अधिकता रहती है।

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धांतों के स्थिरीकरण में मनुष्य-समाज को अनंत समय लगा है। संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धांतों के आधार हैं। वे ही संगीत-कला के प्राणरूप या मूल कारण हैं। इससे स्पष्ट है कि संगीत-कला का आधार या संवाहक नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा विस्तृत है और वह प्रभाव अनादि काल से मनुष्य मात्र की आत्मा पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से जंगली मनुष्य से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव के वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हमें हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनंद की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोकसागर में डुबा सकता है, हमें क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है, शांत रस का प्रवाह

संगीत-कला

बहाकर हमारे हृदय में शांति की धारा बहा सकता है। परंतु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों की मध्यस्थता से मन को कराया जा सकता है; उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव, हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परंतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचंड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें तो यह बात संगीत-कला के बाहर है। संगीत का उद्देश्य हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्य-कला को छोड़कर और कोई कला नहीं हो पाई। संगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है, और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्र-कला से बढ़कर है। एक बात यहाँ और जान लेना अत्यंत आवश्यक है। वह यह कि संगीत-कला और काव्य-कला में परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है। उनमें अन्योन्याश्रय-भाव है; एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

ललित कलाओं में सबसे ऊँचा स्थान काव्य-कला का है। इसका आधार कोई मूर्त पदार्थ नहीं होता। यह

शाब्दिक संकेतों के आधार पर अपना अस्तित्व प्रदर्शित करती है। मन को इसका ज्ञान चक्षुरिंद्रिय या कर्णेंद्रिय द्वारा होता है। मस्तिष्क तक अपना प्रभाव पहुँचाने में इस कला के लिये किसी दूसरे साधन के अवलंबन की आवश्यकता नहीं होती। कानों या आँखों को शब्दों का ज्ञान सहज ही हो जाता है। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि जीवन की घटनाओं और प्रकृति के बाहरी दृश्यों के जो काल्पनिक रूप इंद्रियों द्वारा मस्तिष्क या मन पर अंकित होते हैं, वे केवल भावमय होते हैं; और उन भावों के द्योतक कुछ सांकेतिक शब्द हैं। अतएव वे भाव या मानसिक चित्र ही वह सामग्री है, जिसके द्वारा काव्य-कला-विशारद दूसरे के मन से अपना संबंध स्थापित करता है। इस संबंध-स्थापना की वाहक या सहायक भाषा है जिसका कवि उपयोग करता है।

काव्य-कला

अपने को छोड़कर अथवा अपने से भिन्न संसार में जितने वास्तविक पदार्थ आदि हैं, उनका विचार हम दो प्रकार से करते हैं, अर्थात् हम अपनी जाग्रत अवस्था में समस्त सांसारिक पदार्थों का अनुभव दो प्रकार से प्राप्त करते हैं—एक तो ज्ञानेंद्रियों द्वारा उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति से और दूसरे उन भावचित्रों द्वारा जो हमारे मस्तिष्क या मन तक सदा पहुँचते रहते हैं। मैं अपने बगीचे के बरामदे में बैठा हूँ। उस

ललित कलाओं का ज्ञान

समय जहाँ तक मेरी दृष्टि जाती है, उस स्थान का, पेड़ों का, फूलों का, फलों का अर्थात् मेरे दृष्टि-पथ में जो कुछ आता है उन सबका, मुझे साक्षात् अनुभव या ज्ञान होता है। कल्पना कीजिए कि इसी बीच में मेरा ध्यान किसी और सुंदर बगीचे की ओर चला गया जिसे मैंने कुछ दिन पहले कहीं देखा था अथवा जिसकी कल्पना मैंने अपने मन में ही कर ली। उस दशा में इन बगीचों में मेरे पूर्व अनुभवों या उनसे जनित भावों का संमिश्रण रहेगा। अतएव पहले प्रकार के ज्ञान को हम बाह्य ज्ञान कहेंगे, क्योंकि उसका प्रत्यक्ष संबंध उन सब पदार्थों या जीवों से है जो मेरे अतिरिक्त वर्तमान हैं और जिनका प्रत्यक्ष अनुभव मुझे अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा होता है। दूसरे प्रकार के ज्ञान को हम आंतरिक ज्ञान कहेंगे क्योंकि उसका संबंध मेरे पूर्व संचित अनुभवों या मेरी कल्पना-शक्ति से है। ज्ञान का पहला विस्तार मेरी गोचर-शक्ति की सीमा से परिमित है, पर दूसरा विस्तार उससे अत्यंत अधिक है। उसकी सीमा निर्धारित करना कठिन है। यह मेरे पूर्व अनुभव ही पर अवलंबित नहीं, इसमें दूसरे लोगों का अनुभव भी सम्मिलित है; इसमें मेरी ही कल्पना-शक्ति सहायक नहीं होती, दूसरों की कल्पना-शक्ति भी सहायक होती है। जिन पूर्ववर्ती लोगों ने अपने अपने अनुभवों को अंकित करके उन्हें रक्षित या नियंत्रित कर दिया है, चाहे वे इमारत के रूप में हों, चाहे मूर्ति के, चाहे चित्र के और चाहे पुस्तकों के, सबसे

सहायता प्राप्त करके मैं अपने ज्ञान की वृद्धि कर सकता हूँ। पुस्तकों द्वारा दूसरों का जो संचित ज्ञान मुझे प्राप्त होता है और जो अधिक काल तक मानव-हृदय पर अपना प्रभाव जमाए रहता है, उसी की गणना हम काव्य या साहित्य में करते हैं। साहित्य से हमारा अभिप्राय उस ज्ञान-समुदाय से है जिसे साहित्य-शास्त्रियों ने साहित्य की सीमा के भीतर माना है।

हम पहले ही इस बात पर विचार कर चुके हैं कि किस ललित कला में कितना मूर्त आधार है और कौन किस मात्रा में मानसिक आधार पर स्थित है।

काव्य-कला की विशेषता

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि काव्य-कला को छोड़कर शेष चारों ललित कलाएँ बाह्य ज्ञान का आश्रय लेकर मानसिक भावनाएँ उत्पन्न करती हैं, केवल काव्य-कला आंतरिक ज्ञान पर पूर्णतया अवलंबित रहती है। अतएव काव्य का संबंध या आधार केवल मन है। एक उदाहरण लेकर इस भाव को स्पष्ट कर देना अच्छा होगा। मेरे सामने एक ऐतिहासिक घटना का चित्र उपस्थित है जिसे एक प्रसिद्ध चित्रकार ने अंकित किया है। मान लीजिए कि यह चित्र किसी बड़े युद्ध की किसी मुख्य घटना का है। यदि मैं उस घटना के समय स्वयं वहाँ उपस्थित होता तो जो कुछ मेरी आँखें देख सकतीं, वही सब उस चित्र में मुझे देखने को मिलता है। मैं उस चित्र में

सिपाहियों की श्रेणीबद्ध पंक्तियाँ, रिसालों का जमघट, सैनिकों की तलवारों की चमचमाहट, उनके अफ़सरों की भड़कीली वर्दियाँ, तोपों की अग्निवर्षा, सिपाहियों का आहत होकर गिरना—यह सब मैं उस चित्र में देखता हूँ और मुझे ऐसा अनुभव होता है कि मैं उस घटना के समय उपस्थित होकर जो कुछ देख सकता था, वह सब उस चित्रपट पर मेरी आँखों के सामने उपस्थित है। पर यदि मैं उसी घटना का वर्णन इतिहास की किसी प्रसिद्ध पुस्तक में पढ़ता हूँ तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि इतिहास-लेखक की दृष्टि किसी एक स्थान या समय की सीमा से घिरी हुई नहीं है। वह सब बातों का पूरा विवरण मेरे सम्मुख उपस्थित करता है। वह मुझे बतलाता है कि कहाँ पर लड़ाई हुई, लड़नेवाले दोनों दल किस देश और किस जाति के थे, उनकी संख्या कितनी थी, उनमें लड़ाई क्यों और कैसे हुई, उनके सेनानायकों ने अपने पक्ष की विजयकामना से कैसी रणनीति का अवलंबन किया, कहाँ तक वह नीति सफल हुई, युद्ध का तात्कालिक प्रभाव क्या पड़ा, उसका परिणाम क्या हुआ, और अंत में उस युद्ध ने लड़नेवाली दोनों जातियों, तथा अन्य देशों और उनके भविष्य जीवन पर क्या प्रभाव डाला। परंतु वह इतिहास-लेखक उस लड़ाई का वैसा हृदय-ग्राही और मनोमुग्धकारी स्पष्ट चित्र मेरे सम्मुख उपस्थित करने में उतना सफल नहीं हुआ जितना कि चित्रकार हुआ है। पर यह भाव, यह चित्रण तभी तक

मुझे पूरा पूरा प्रभावित करता है जब तक मैं उस चित्र के सामने खड़ा या बैठा उसे देख रहा हूँ। वह मेरी आँखों से ओझल हुआ कि उसकी स्पष्टता का प्रभाव मेरे मन से हटने लगा। इतिहासकार की कृति का अनुभव करने में मुझे समय तो अधिक लगाना पड़ा, परन्तु मैं जब चाहूँ तब अपनी कल्पना या स्मरण-शक्ति से उसे अपने अंतःकरण के सम्मुख उपस्थित कर सकता हूँ। अतएव साहित्य या काव्य का प्रभाव चित्र की अपेक्षा अधिक स्थायी और पूर्ण होता है। इसका कारण यही है कि चित्र में मूर्त आधार वर्तमान है और वह बाह्य ज्ञान पर अवलंबित है, परंतु साहित्य में मूर्त आधार का अभाव है और वह अंतर्ज्ञान पर अवलंबित है। संक्षेप में, हम चित्र को देखकर यह कहते हैं कि "मैंने लड़ाई देखी," पर उसका वर्णन पढ़कर हम कहते हैं कि "मैंने उस लड़ाई का वर्णन पढ़ लिया" या "उस लड़ाई का ज्ञान प्राप्त कर लिया।"

इन विचारों के अनुसार काव्य या साहित्य को हम महाजनों की भावनाओं, विचारों और कल्पनाओं का एक लिखित भांडार कह सकते हैं, जो अनंत काल से भरता आता है और निरंतर भरता जायगा। मानव सृष्टि के आरंभ से मनुष्य जो देखता, अनुभव करता और सोचता-विचारता आया है, उस सबका बहुत कुछ अंश इसमें भरा पड़ा है। अतएव यह स्पष्ट है कि मानव जीवन के लिये यह भांडार कितना प्रयोजनीय है।

मनुष्य के काव्य रूपी मानसिक जीवन में पुस्तकें बड़े महत्त्व की वस्तु हैं। बिना उनके काव्य का अस्तित्व ही लुप्त हो गया होता। यदि पुस्तकें न होतीं तो आज हम महर्षि वाल्मीकि, कविकुल-चूड़ामणि कालिदास, भवभूति, भारवि, भगवान् बुद्धदेव, मर्यादापुरुषोत्तम महाराज रामचंद्र आदि से कैसे बात-चीत करते, उनके कीर्ति-कलाप का ज्ञान कैसे प्राप्त करते, और उनके अनुभव तथा अनुकरण से लाभ उठाकर अपने जीवन को उन्नत और महत्त्वपूर्ण बनाने में कैसे समर्थ होते।

काव्य-कला में पुस्तकों का महत्त्व

संसार का जो कुछ ज्ञान हम अपने पूर्व अनुभव और काव्य-साहित्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, वह हमें इस योग्य बनाता है कि हम इस मूर्त संसार का बाह्य ज्ञान भली भाँति प्राप्त करें और विविध कलाओं के परिशीलन या प्रकृति के दर्शन से वास्तविक आनंद प्राप्त करें तथा उसके मर्म को समझें। संसार की प्रतीति ही हमें उसके मूर्त बाह्य रूप को पूरा पूरा समझने में समर्थ करती है।

काव्य का महत्त्व

काव्य को हम मानव जाति के अनुभूत कार्यों अथवा उसकी अंतर्वृत्तियों की समष्टि भी कह सकते हैं। जैसे एक व्यक्ति का अंतःकरण उसके अनुभव, उसकी भावना, उसके विचार और उसकी कल्पना को, अर्थात् उसके सब प्रकार के ज्ञान को रक्षित रखता है और इसी रक्षित भांडार की सहायता से वह नष्ट अनुभव और नई भावनाओं का तथ्य समझता

है, उसी प्रकार काव्य जातिविशेष का मस्तिष्क या अंतःकरण है जो उसके पूर्व अनुभव, भावना, विचार, कल्पना और ज्ञान को रक्षित रखता है और उसी की सहायता से उसकी वर्तमान स्थिति का अनुभव प्राप्त किया जाता है। जैसे ज्ञानेंद्रियों के सब सँदेसे बिना मस्तिष्क की सहायता और सहयोगिता के अस्पष्ट और निरर्थक होते, वैसे ही साहित्य के बिना, पूर्व-संचित ज्ञान-भांडार के बिना, मानव-जीवन पशु-जीवन के समान होता। उसमें वह विशेषता ही न रह जाती जिसके कारण मनुष्य मनुष्य कहलाने का अधिकारी है।

---

(२) कविता की कसौटी

काव्य के अंतर्गत वे ही पुस्तकें आती हैं जो विषय तथा उसके प्रतिपादन की रीति के कारण मानव-हृदय को स्पर्श करनेवाली हों और जिनमें रूप-सौष्ठव का मूल तत्त्व तथा उसके द्वारा आनंद का उद्रेक करने की शक्ति विशेष रूप से वर्तमान हो। इस लक्षण का विवेचन करने पर यह स्पष्ट होता है कि काव्य में दो बातें मुख्य हैं—एक तो विषय और उसके प्रतिपादन की रीति का मानव हृदय को स्पर्श करनेवाली होना, और दूसरे रूप-सौष्ठव और उसके द्वारा आनंद का उद्रेक होना। ये दोनों गुण गद्य और पद्य दोनों में हो सकते हैं। हमारे भारतीय शास्त्रकारों ने मुख्यतया पद्य में ही इन गुणों का होना माना है। साधारणतः काव्य शब्द से पद्य ही का बोध होता है। जहाँ उन्हें गद्य का निर्देश करना आवश्यक हुआ है, वहाँ उन्होंने "गद्य-काव्य" शब्दों का प्रयोग किया है। इससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि पद्य-काव्य की ओर उन्होंने विशेष ध्यान दिया है, तथापि वे यह बात भी मानते थे कि गद्य में भी काव्य के लक्षण आ सकते हैं। यह युग गद्य का है अतएव काव्य के अंतर्गत हमें पद्य-काव्य और गद्य-काव्य दोनों मानने चाहिएँ। पद्य का दूसरा नाम कविता है जिसमें मनोविकारों पर प्रभाव डालनेवाला तथा

कविता और पद्य

मानव-हृदय-स्पर्शी पद्यमय वर्णन होता है। बिना काव्य का भी पद्य होता है। पर वह केवल पिंगल के नियमानुसार नियमित मात्राओं वा वर्णों का वाक्य-विन्यास होता है। अतएव कविता और पद्य में यह भेद है कि पहले में काव्य के लक्षणों सहित दूसरा वर्तमान रहता है और दूसरे में पहले का रहना आवश्यक नहीं है, अर्थात् कविता पद्यमय अवश्य होगी, पर पद्य के लिये काव्यमय होना आवश्यक नहीं है। जितने पद्य रचे जाते हैं, सब कविता कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। जिनमें काव्य के गुण होंगे, वे ही कविता कहला सकेंगे, शेष को "पद्य" में ही परिगणित होने का सौभाग्य प्राप्त होगा।

कविता के लक्षण

पश्चिमीय विद्वानों ने कविता का लक्षण भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। जानसन का मत है कि "कविता पद्यमय निबंध है" मिल्टन के अनुसार "कविता वह कला है जिसमें कल्पना-शक्ति विवेक की सहायक होकर सत्य और आनंद का परस्पर संमिश्रण करती है।" कारलायल के अनुसार "कविता संगीतमय विचार है।" रस्किन का कहना है कि "कविता कल्पना-शक्ति-द्वारा उदात्त मनोवृत्तियों के श्रेष्ठ आलंबनों की व्यंजना है।" कारथाय कहता है कि "कविता वह कला है जो संगीतमय भाषा में काल्पनिक विचारों और भावों की यथार्थ व्यंजना से आनंद का उद्रेक करती है।" वाट्स डंटन का कहना है कि "कविता मनोवेगमय और संगीतमय भाषा में मानव अंतःकरण की मूर्त और कलात्मक

व्यंजना है।" संस्कृत साहित्यकारों ने कविता (काव्य) को "रमणीय अर्थ का प्रतिपादक" अथवा "रसात्मक वाक्य" कहा है। पर इन सब लक्षणों से हमारा संतोष नहीं होता। हमारी समझ में "कविता वह साधन है जिसके द्वारा शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा और उसका निर्वाह होता है। राग से हमारा अभिप्राय प्रवृत्ति और निवृत्ति के मूल में रहनेवाली अंत:करण-वृत्ति से है। जिस प्रकार निश्चय के लिये प्रमाण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रवृत्ति या निवृत्ति के लिये भी कुछ विषयों का बाह्य या मानस प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है। ये ही हमारे रागों या मनोवेगों के, जिन्हें साहित्य में भाव कहते हैं, विषय हैं। कविता उन मूल और आदिम मनोवृत्तियों का व्यवसाय है जो सजीव सृष्टि के बीच सुख-दु:ख की अनुभूति से विरूप परिणाम द्वारा अत्यंत प्राचीन कल्प में प्रकट हुई और मनुष्य-जाति आदि काल से जिनके सूत्र से शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव करती चली आई है। वन, पर्वत, नदी, नाले, निर्झर, कछार, पटपर, चट्टान, वृक्ष, लता, झाड़, पशु, पक्षी, अनंत आकाश, नक्षत्र आदि तो मनुष्य के आदिम सहचर हैं ही; पर खेत, पगडंडी, हल, झोंपड़े, चौपाए आदि भी कुछ कम पुराने नहीं हैं। इनके द्वारा प्राप्त रागात्मक संस्कार मानव अंत:करण में दीर्घ परंपरा के कारण मूल रूप से बद्ध हैं। अतएव इनके द्वारा भी सच्चा रसपरिपाक पूर्णतया संभव है।

रागों या वेगस्वरूप मनोवृत्तियों का सृष्टि के साथ उचित सामंजस्य स्थापित करके कविता मानव-जीवन के व्यापकत्व की अनुभूति उत्पन्न करने का प्रयास करती है। यदि इन वृत्तियों को समेटकर मनुष्य अपने अंत:करण के मूल रागात्मक अंश को सृष्टि से किनारे कर ले तो फिर उसके जड़ हो जाने में क्या संदेह रहा ? यदि वह लहलहाते हुए खेतों और जंगलों, हरी घास के बीच घूमकर बहनेवाले नालों, काली चट्टानों पर चाँदी की तरह झरते हुए झरनों, मंजरी से लदी हुई अमराइयों, पटपर के बीच खड़े झाड़ों को देख क्षण भर लीन न हुआ, यदि कलरव करते हुए पक्षियों के आनंदोत्सव में उसने योग न दिया, यदि खिले हुए फूलों को देख वह स्वयं न खिला, यदि सुंदर रूप देख पवित्र भाव से मुग्ध न हुआ, यदि दीन-दु:खी का आर्तनाद सुन न पसीजा, यदि अनाथों और अबलाओं पर अत्याचार होते देख क्रोध से न तिलमिलाया, यदि हास्य की अनूठी युक्ति पर न हँसा तो उसके जीवन में रह ही क्या गया ? ज्यों ज्यों मनुष्य के व्यापार का क्षेत्र जटिल और सघन होता गया, त्यों त्यों सृष्टि के साथ उसके रागात्मक संबंध के विच्छेद की आशंका बढ़ती गई। ऐसी स्थिति में बड़े बड़े कवि ही उसे सँभालते आए हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट है कि सृष्टि के नाना रूपों के साथ मनुष्य की भीतरी रागात्मिका प्रकृति का सामंजस्य ही कविता का लक्ष्य है। वह जिस प्रकार प्रेम,

क्रोध, करुणा, घृणा, आदि मनोवेगों या भावों पर सान चढ़ाकर उन्हें तीक्ष्ण करती है, उसी प्रकार जगत् के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उनका उचित संबंध स्थापित करने का भी उद्योग करती है। इस बात का निश्चय हो जाने पर वे सब मतभेद दूर हो जाते हैं जो काव्य के नाना लक्षणों और विशेषतः रस आदि के भेद-प्रतिबंधों के कारण चल पड़े हैं। ध्वनि-संप्रदायवालों का नैयायिकों से उलझना या आलंकारिकों का रस-प्रतिपादकों से झगड़ना एक पतली गली में बहुत से लोगों का धक्कमधक्का करने के समान है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" में कुछ लोगों को जो अव्याप्ति दिखाई पड़ी है, वह नौ भेदों के कारण ही हुई। रस के नौ भेदों की सीमा के अंदर शृंगार के उद्दीपन विभाव के संबंध में सृष्टि के बहुत थोड़े से अंश के वर्णन के लिये, उन्हें जगह दिखाई पड़ी। हमारे पिछले खेवे के हिंदी कवियों ने तो उतने ही पर संतोष किया। रीति के अनुसार "षट् ऋतु" के अंतर्गत कुछ इनी गिनी वस्तुओं को लेकर कभी नायिका को हर्ष से पुलकित करके और कभी विरह से व्याकुल करके वे चलते हुए।

कविता के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि हम उसके तत्त्वों को जानने और समझने का उद्योग करें। बिना ऐसा किए उसका सम्यक् ज्ञान होना कठिन है। हम पहले कह चुके हैं कि काव्य जीवन की एक प्रकार की व्याख्या है जो व्याख्याता के मन में अपना

रूप धारण करती है; अर्थात् व्याख्याता जीवन के संबंध में अपने जैसे विचार स्थिर करता है, उन्हीं का स्पष्टीकरण काव्य है।

कविता का स्वरूप

अब प्रश्न यह होता है कि जीवन की व्याख्या में वह कौन सा तत्त्व है जो उसे कवितामय बनाता है। 'कवितामय' शब्द से हमारा तात्पर्य 'रागात्मक और कल्पनात्मक' है; अर्थात् जिस वाक्य में कल्पना और मनोवेगों का बाहुल्य हो, वह कविता कहलावेगा। इस विचार से यदि किसी व्यक्ति, पुस्तक, चित्र या विचार में हम इन दोनों तत्त्वों को स्पष्ट देखें, तो उसे हम कवितामय कह उठेंगे। अतएव जीवन की कवितामय व्याख्या से हमारा तात्पर्य जीवन की उन घटनाओं, अनुभवों या समस्याओं से होता है जिनमें रागात्मक या कल्पनात्मक तत्त्वों का बाहुल्य हो। कविता की यह विशेषता है कि जीवन से संबंध रखनेवाली जिस किसी बात से उसका संसर्ग होगा, उसमें मनोवेग अवश्य वर्तमान होंगे; तथा कल्पना-शक्ति से वह प्रस्तुत सत्ता को काल्पनिक सत्ता का और काल्पनिक सत्ता को वास्तविक सत्ता का रूप दे देगी। इसका तात्पर्य यह है कि एक तो कविता में मनोवेगों (भावों) और रागों की प्रचुरता होगी और दूसरे कल्पना का प्राबल्य इतना अधिक होगा कि वास्तविक वस्तुएँ कल्पनामय बन जायँगी; और जो कल्पना हैं, अर्थात् जिनको उत्पत्ति कवि के अंत:करण में हुई है, वे वास्तविक जान पड़ने लगेंगी।

परंतु केवल इन्हीं दोनों गुणों के कारण कविता का स्वरूप स्थिर नहीं होगा। हम यह नहीं कह सकते कि जहाँ मनोवेगों और कल्पना की प्रचुरता हुई, वहाँ कविता का प्रादुर्भाव भी हुआ। अधिक से अधिक हम इतना ही कह सकते हैं कि ये दोनों तत्त्व आवश्यक हैं; और जिस वाक्य में ये न होंगे, वह कविता न कहला सकेगा। परंतु इनके अतिरिक्त कुछ और भी है। गद्य में भी ये रागात्मक और कल्पनात्मक गुण वर्तमान हो सकते हैं, पर ऐसा गद्य कवितामय कहलावेगा, कविता नहीं। गद्य और कविता में कुछ भेद है। प्रायः ऐसा होता है कि गद्य भी कवितामय हो सकता है और कविता भी गद्यमय हो सकती है। अब यह जानना आवश्यक हुआ कि दोनों में भेद क्या है। वह गुण जो कविता में ऊपर कहे हुए दो तत्त्वों के अतिरिक्त आवश्यक है, वही है जो गद्य और पद्य का भेद निर्धारित करता है। गद्य और पद्य में मुख्य भेद उनके रूप का, उनकी भावव्यंजना के ढंग का, उनकी भाषा के रँग-ढँग का है। सरल शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि पद्य में लय-संयुक्त भाषा या वृत्त की भी आवश्यकता है जो कविता का बाह्य रूप है। उसकी अंतरात्मा मनोवेग और कल्पना हैं। इस लेख में हम कविता और पद्य के कुछ साधारण भेद के विषय में लिख चुके हैं। जिस वाक्य में कविता का बाह्य रूप अर्थात् लयमय भाषा या वृत्त ही होगा, उसकी अंतरात्मा अर्थात् मनोवेगों और कल्पना का बाहुल्य न

होगा, वह पद्य के नाम से ही पुकारा जा सकेगा; कविता के महत्त्वपूर्ण नाम का वह अधिकारी न होगा। अतएव जहाँ केवल कल्पना और मनोवेग ही हों, वहाँ समझना चाहिए कि कविता की अंतरात्मा अपने बाह्य रूप के बिना ही वर्तमान है; और जहाँ केवल वृत्त हो, वहाँ समझना चाहिए कि उसका बाह्य रूप, अंतरात्मा के बिना, खड़ा किया गया है। सारांश यह कि कविता में, वास्तविक कविता में, बाह्य रूप और अंतरात्मा दोनों का पूर्ण संयोग आवश्यक और अनिवार्य है।

कविता और वृत्त

कुछ लोगों का कहना है कि कविता के लिये वृत्त की आवश्यकता नहीं है। उनका कहना है कि वृत्त एक प्रकार का परिधान है; वह कविता का भूषण है, उसका मूल तत्त्व नहीं है; उसके बिना भी कविता हो सकती है और हुई है। यह सच है कि गद्य में भी कविता के लक्षण उपस्थित रह सकते हैं, पर वह कविता नहीं है, वह गद्य है। यह और बात है कि हम उसमें उन गुणों की विशेषता देख कर उसे "कवितामय गद्य" की उपाधि दें; पर है वह वास्तव में गद्य ही। बिना वृत्त के कविता न आज तक कहीं मानी गई है और न मानी जाती है। फिर यह बात भी विचारणीय है कि मानव-जीवन में संगीत का भी एक विशेष स्थान है। प्रकृति ही संगीतमय है। मंद मंद वायु के संचार, झरनों की कलकल ध्वनि, पत्तों की सरसराहट, नदियों के प्रवाह, पक्षियों के कलरव, यहाँ तक कि समुद्र-गर्जन

में भी संगीत है जिससे मनुष्य की आत्मा को आनंद और संतोष प्राप्त होता है। इसे कविता से अलग करना मानों उसके रूप, उसके महत्त्व और उसके प्रभाव को बहुत कुछ कम कर देना है। कुछ लोग वृत्त को एक प्रकार का बंधन मानते हैं और कहते हैं कि इसकी यह बेड़ी काट दो, इसे मुक्त कर दो, यह स्वतंत्र होकर अपना कार्य करे। परंतु जो लोग कविता के प्रेमी हैं, जिन्होंने उसके अमृत-रस का आस्वादन किया है, जो उसकी मिठास का अनुभव कर चुके हैं, वे मुक्त-कंठ से कहते हैं कि उसकी संगीतमय भाषा का गंभीर और आह्लादकारी प्रभाव उसके महत्त्व को बढ़ाता, उसे मधुर और मनोहारी बनाता तथा मानव हृदय में अलौकिक आनंद का उद्रेक करता है। अतएव कविता का संगीतमय बाह्य रूप नष्ट करना मानों कविता की शक्ति को नष्ट करना है।

केवल इतना ही नहीं है। सृष्टि के प्रारंभ से सभी गंभीर और मर्मव्यापी भावों को मनुष्य ने संगीतमय भाषा में ही व्यंजित किया है। यह गंभीरता और मर्मस्पर्शिता जितनी ही अधिक होगी, संगीत उतना ही उन्नत और मधुर होगा। अतएव कविता और वृत्त या संगीत का संबंध बहुत पुराना और स्थायी है। इस संबंध के कारण हम कभी कभी इस संसार को भूल-कर एक दूसरे ही अलौकिक आनंद-लोक में जा विराजते हैं, हमारे मनोवेग उत्तेजित हो उठते हैं, हमारे भावों में अद्भुत परिवर्तन हो जाता है और हमारी कल्पना कवि की कल्पना का

अनुसरण करती हुई, जहाँ जहाँ वह ले जाता है, चली जाती है और अपनी सत्ता को भूलकर उसकी सत्ता में लीन हो जाती है। अतएव कविता को संगीत या वृत्त से अलग करना उसके एक प्रधान गुण को छोड़ देना है।

कविता और विज्ञान

हम यह बतला चुके हैं कि कविता मनोवेगों और कल्पनाओं द्वारा होनेवाली जीवन की व्याख्या है। इसे भली भाँति समझने के लिये कविता और विज्ञान के मुख्य भेद को जान लेना आवश्यक है। विज्ञान का संबंध संसार के प्राकृतिक तत्त्वों या भूतार्थों से है; अर्थात् वह उन वस्तुओं पर विचार करता है जो भौतिक वास्तविकता से संबंध रखती हैं। वैज्ञानिक भौतिक वस्तुओं के रूप, आकार, रचना, गुण, स्वभाव और संबंध पर विचार करता, उन्हें परस्पर मिलाता, उनका वर्गीकरण करता तथा उन कारणों या क्रियाओं का पता लगाता है। जिनके अधीन होकर वे अपना वर्तमान रूप धारण करती हैं इस प्रकार विज्ञान का प्रत्येक आचार्य जगत् के इस बाह्य रूप का विषयात्मक विचार करता है और एक एक प्राकृतिक तत्त्व को मिलाकर पहले सादृश्य के बल पर कई वर्ग स्थापित करता और फिर कई छोटे छोटे वर्गों से एक बड़ा वर्ग स्थापित करता है। इस प्रकार वह सृष्टि में अनेकता और अस्तव्यस्तता के स्थान पर एकता और क्रमशीलता स्थापित करने का उद्योग करता है। अतएव विज्ञान का उद्देश पदार्थों की क्रमबद्ध,

बुद्धि-संगत और सहेतुक व्याख्या करना है जिसके अंतर्गत उनका गुण, उद्भव और इतिहास सम्मिलित रहता है, और जो कार्य-कारण-संबंध तथा प्राकृतिक नियम के आधार पर की जाती है। इसके अतिरिक्त जो कुछ बच जाता है, उससे विज्ञान का न कोई संबंध है और न प्रयोजन।

परंतु यह स्पष्ट है कि इस वैज्ञानिक व्याख्या के अनंतर जो कुछ बच रहता है उससे हमारा बड़ा घनिष्ठ संबंध है। हम संसार के नित्य-व्यवहार में देखते हैं कि पदार्थों या घटनाओं के वास्तविक रूप से हम आकर्षित नहीं होते, वरन् उनका वाह्य रूप और हमारे मनोवेगों पर उनका प्रभाव हमें विशेष आकर्षित करता है। जब हम विज्ञान के अध्ययन में लगे रहते हैं, तब हम समस्त सृष्टि को प्राकृतिक घटनाओं की एक समष्टि समझते हैं, जिनकी जाँच करना, जिनका वर्गीकरण करना और जिनका कारण ढूँढ़ निकालना हमारा कर्त्तव्य होता है। परंतु हम अपने नित्य-व्यवहार में इन घटनाओं को इस दृष्टि से नहीं देखते। विज्ञान के उन घटनाओं का पूरा पूरा समाधान करनेवाला कारण बता देने पर भी हम उनकी अद्भुतता और सुंदरता से ही प्रभावित होते हैं; कैसी ही स्पष्ट वैज्ञानिक व्यवस्था क्यों न हो, वह हमारे इस प्रभाव को निर्मूल नहीं कर सकती, उलटे वह उसके बढ़ाने ही का कारण होती है। इसी साधारण बात में हमें कविता के मूल और उसकी शक्ति का पता लगता है। साधारणतः

हमें सृष्टि की अद्भुतता और सुंदरता का अनुभव अस्पष्ट और कुंठित सा होता है। पर जब हमारी संवेदना उत्तेजित हो उठती है, तब यही अनुभव बहुत स्पष्ट और प्रभावोत्पादक हो जाता है और हममें आनंद, आश्चर्य, कृतज्ञता, आदर-भाव आदि का उद्रेक करता है। ऐसी ही चित्तवृत्ति से कविता का प्रादुर्भाव होता है और वह सांसारिक पदार्थों को रागात्मक तथा आध्यात्मिक भावना से रंजित करके हमारे सम्मुख उप-स्थित करती है। इस दृष्टि से कविता विज्ञान के प्रतिकूल तथा अनुकूल दोनों होती है।

ऊपर हमने कविता और विज्ञान के संबंध में जो कुछ लिखा है, उसे स्पष्ट और मनोनिविष्ट करने के लिये हम यहाँ कुछ उदाहरण देते हैं। जब हम किसी बगीचे में जाते हैं, तब भिन्न भिन्न ऋतुओं में होनेवाले रंग बिरंगे मनोहर फूलों को देखकर उनके नाम माली से पूछते हैं। वह किसी का नाम गुलाब, किसी का कमल, और किसी का जूही, चमेली या हरसिंगार बताता है। विज्ञान-विशारद हमें बतावेगा कि यह फूल इस श्रेणी का है, इसकी उत्पत्ति इस प्रकार से होती है, इसमें सुगंधि ऐसे आती है, इसके गर्भ-केसर और पराग का इतिहास इस प्रकार है। इसमें संदेह नहीं कि जो कुछ वैज्ञानिक कहेगा, वह अत्यंत ही अद्भुत और मनोरंजक होगा, परंतु हम जिस दृष्टि से उन फूलों को देखते हैं, वह कुछ और ही है। उसकी सुंदरता और मधुरता का अनुभव करने के

लिये हमें कवि का आश्रय लेना पड़ेगा। वही हमारे लिये यह काम कर सकता है। मैथ्यू आर्नल्ड का कहना है कि "कविता की महती शक्ति इसी में है कि वह वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार करती है कि हममें उनके विषय में एक अद्भुत, पूर्ण, नवीन और गहरी भावना उत्तेजित हो जाती है। इस प्रकार वह उनसे हमारा संबंध स्थापित करती है। हमें इस बात का पता नहीं लगता कि वह भावना भ्रमात्मक है अथवा वास्तविक है, अथवा वह हमें वस्तुओं की वास्तविक प्रकृति या गुणों का ज्ञान कराती है या नहीं। हमें तो इस बात से काम है कि कविता हममें इस भावना को उत्तेजित करती है और इसी में उसकी महत्ता है। विज्ञान पदार्थों की इस भावना को वैसा उत्तेजित नहीं करता, जैसा कि कविता करती है।" देखिए, इन्हीं फूलों में से किसी किसी फूल को चुनकर कवि क्या कहते हैं—

"खिला है नया फूल उपवन में।
सुखी हो रहे हैं सब तरुवर, बेलें हँसती मन में॥
रूप अनूठा लेकर आया, मृदु सुगंधि फैलाई।
सबके हृदय-देश में अपनी प्रभुता-ध्वजा उड़ाई॥"

"अहो कुसुम कमनीय कहो क्यों फूले नहीं समाते हो।
कुछ विचित्र ही रंग दिखाते मंद मंद मुसकाते हो॥
हम भी तो कुछ सुनें, किस लिये इतना है उल्लास तुम्हें।
बात बात में खिल खिलकर तुम किसकी हँसी उड़ाते हो॥

कैसी हवा लगी यह तुमको, क्षणिक विभव में भूलो मत।
अभी सबेरा है, कुछ सोचो, अवसर व्यर्थ गँवाते हो ॥"
"ग्रीष्मकाल के अंत समय की यह कलिका है अति प्यारी।
विकसी हुई अकेली शोभा पाती इसकी छवि न्यारी॥
कलियाँ और खिली थीं जो सब, थीं इसकी सखियाँ सारी।
सो सब कुम्हला गई देखिए, सूनी है उनकी क्यारी॥
'सुख दुख दोनों आते-जाते इस जग में बारी बारी।'
इन कलिकाओं से सूचित है विधि-विपाक यह संसारी॥"

भारतवासी-मात्र ग्रीष्म के ताप की प्रचंडता और वर्षा के शांतिमय सुखद प्रभाव का अनुभव करते हैं। वैज्ञानिक तो हमें इतना ही बतावेगा कि बाहर अमुक दिन ताप इतनी डिग्री और छाया में इतनी डिग्री था, और गत वर्ष की अपेक्षा इतना कम या अधिक था। पर कवि कहेगा—

"प्रबल प्रचंड चंडकर की किरन देखो
बैहर उदंड नवखंड धुमलति है।
औटि के कराही रतनाकर को तैल जैसो
नैन कवि जल की लहर उछलति है॥
ग्रीषम की कठिन कराल ज्वाल जागी महा
काल व्याल मुखहू की देह पिघलति है।
लूका भयो आसमान भूधर भभूका भयो
भभकि भभकि भूमि दावा उगलति है॥"

"जीवन को त्रास कर ज्वाला को प्रकास कर
भोर ही ते भासकर आसमान छायो है।
धमक धमक धूप सूखत तलाब कूप
पौन कौन जौन भौन आगि में तचायो है॥
तकि थकि रहे जकि सकल बिहाल हाल
ग्रीषम अचर चर खचर सतायो है।
मेरे जान काहू वृषभान जगमोचन को
तीसरो त्रिलोचन को लोचन खुलायो है॥"

वर्षा के संबंध में वैज्ञानिक विद्वान् यह कहेगा कि मौसिमी हवा इतने वेग से चली आ रही है; वह इस दिशा की ओर जा रही है और उसके कारण अमुक अमुक प्रांतों में वर्षा होने की संभावना है; अथवा इन इन स्थानों में इतने इंच पानी बरसा। पर कवि कहेगा—

"सुखद सीतल सुचि सुगंधित पवन लागी बहन।
सलिल बरसन लगो, बसुधा लगी सुखमा लहन॥
लहलही लहरान लागीं सुमन बेली मृदुल।
हरित कुसुमित लगे झूमन वृच्छ मंजुल विपुल॥
हरित मनि के रंग लागी भूमि मन को हरन।
लसति इंद्रवधून अवली छटा मानिक बरन॥
बिमल बगुलन पाँति मनहुँ बिसाल मुक्तावली।
चंद्रहास समान चमकति चंचला त्यों भली॥

नील नीरद सुभग सुरधनु बलित सोभाधाम।
लसत मनु बनमाल धारे ललित श्री घनस्याम॥
कूप कुंड गँभीर सरवर नीर लाग्यो भरन।
नदी नद उफनान लागे, लगे झरना झरन॥
रटत दादुर विविध लागे रुचन चातक बचन।
कूक छावत मुदित कानन लगे केकी नचन॥
मेघ गरजत मनहुँ पावस भूप को दल सबल।
विजय दुंदुभि हनत जग में छीनि ग्रीसम असल।"

इससे प्रकट है कि कवि की कल्पना हमारे सुख दुःख आदि की भावनाओं का जितना सुंदर और प्रभावोत्पादक तथा सच्चा चित्र खींच सकेगी, उतना वैज्ञानिक की कार्य-सीमा के बाहर है।

कवि-कल्पना में सत्यता

यह कहना कि कवि की कल्पना में सत्यता का अभाव रहता है, सर्वथा अनुचित है। सत्यता का जो अर्थ साधारणतः किया जाता है उसे कविता में ढूँढ़ना ठीक न होगा। वह तो केवल विज्ञान में मिल सकता है। कविता में सत्यता से अभिप्राय उस निष्कपटता से है, जो हम अपने भावों या मनोवेगों का व्यंजन करने में, उनका हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे प्रत्यक्त करने तथा उनके कारण हममें जो सुख-दुःख, आशा-निराशा, भय-आशंका, आश्चर्य-चमत्कार, श्रद्धा-भक्ति आदि के भाव उत्पन्न होते हैं, उनको अभिव्यक्त करने में प्रदर्शित करते

हैं। अतएव कविता में सत्यता की कसौटी यह नहीं हो सकती कि हम वस्तुओं का वास्तविक रूप खोलकर दिखाएँ, किंतु इस बात में होती है कि उन वस्तुओं की सुंदरता, उनका रहस्य, उनकी मनोमुग्धकारिता आदि का हम पर जो प्रभाव पड़ता है, उसे कविता की दृष्टि से स्पष्ट प्रकट करके दिखावें। यही कविता द्वारा—जीवन की, मानव-जीवन और प्राकृतिक जीवन की—कल्पना और मनोवेगों के रूप में, व्याख्या है। परन्तु यह बात न भूलनी चाहिए कि कवि का संबंध वस्तुओं की सुंदरता, उनके भीतरी रहस्य और उनकी मनोमुग्धकारिता से है; इस कारण कवि जो चाहे, लिखने के लिये स्वतंत्र है। उसके लिये प्राकृतिक घटनाओं का, वस्तुओं की वास्तविक स्थिति आदि का कोई प्रतिबंध नहीं है। यह सच है कि कवि हमें वस्तुओं के गूढ़ भाव का परिचय हमारे और उनके परस्पर संबंध को कल्पना और मनोवेगों से रंजित करके कराता है, परंतु हम इस बात को नहीं सह सकते कि वह हमें अँधेरे में ढकेल दे और वस्तुओं के विकृत रूप से हमें परिचित करावे; उसका सांसारिक ज्ञान और प्राकृतिक अनुभव स्पष्ट, सच्चा और स्थायी होना चाहिए, और जिन घटनाओं या बातों को वह उपस्थित करे, उनके संबंध में उसके सिद्धांत निष्कपटता तथा सचाई की नींव पर स्थित हों। जहाँ इसका अभाव हुआ, वहाँ कविता की महत्ता बहुत कुछ कम हो गई।

श्रीपति कवि लिखते हैं—"गोरी गरबीली तेरे गात की गुराई आगे चपला-निकाई अति लागत सहल सी" चपला की चमक प्रसिद्ध है। उस चमक या द्युति से गात की कांति की उपमा न देकर "गात की गुराई" की उपमा देना अनुचित है।

भिखारीदासजी कहते हैं—"कंज सकोच गड़े रहे कीच में मीनन बोरि दियो दह तीरन।" कमल के फूल और पत्ते सदा पानी के ऊपर रहते हैं, उनकी नाल अवश्य पानी के नीचे ज़मीन में गड़ी रहती है। आँखों की उपमा कमल के फूल या उसकी पँखुरियों से दी जाती है, कमल के समूचे पौधे से नहीं। संकोच के मारे कमल को अपना वह अङ्ग छिपाना था जो आँख की टक्कर का नहीं था, पर उसे तो वह ऊपर ही रखता है। अतएव ऐसी उक्ति प्रकृति-निरीक्षण के प्रतिकूल होने से ग्राह्य न होनी चाहिए।

गोसाईं तुलसीदासजी ने कहा है—

"फूलै फलै न बेंत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहिं विरञ्चिसम॥"

पहले तो बेंत फलता और फूलता है। फिर सुधा का गुण जीवन-दान देना या अमर करना माना जाता है। उसके बरसने से कोई पौधा यदि सूखा हुआ हो, तो हरा-भरा हो सकता है, या सदा जीवित रह सकता है, पर अपनी जाति या अपना गुण नहीं बदल सकता। गोस्वामीजी ने कवि-पद्धति के अनुसार बेंत का न फूलना फलना लिखा है, पर यह

बात प्रकृति के विरुद्ध है। इसी प्रकार चकोर का आग खाना, चन्द्रकांतमणि का जल टपकाना आदि कवि-कल्पित बातें हैं जिनका व्यवहार कविजन केवल अंधपरम्परा के कारण करते आते हैं। हमारी समझ में अब इस परंपरा को छोड़कर प्रकृति का अनुसरण करना ही उचित और संगत होगा। प्रकृति के विरुद्ध बातें यदि कवि-पद्धति के अनुसार हों, तो वे कवि की परतंत्रता सूचित करती हैं; पर जहाँ कवि-प्रथा का अनुसरण भी नहीं है, वहाँ वैसी उक्तियाँ कवि की अज्ञानता, उच्छृंखलता या प्रकृति की अवहेलना ही सूचित करती हैं। जैसे बिहारी-सतसई के कर्त्ता ने यह दोहा लिखा है—

"सन सूक्यौ बीत्यौ बनौ, ऊखौ लई उखारि।
हरी हरी अरहर अजौं, धर धरहर हिय नारि।"

जिन्हें इस बात का अनुभव है कि किस ऋतु में कौन कौन धान्य उत्पन्न होते हैं वा पकते हैं, वे कहेंगे कि कपास पहले होती है और सन पीछे उखाड़ा जाता है। पर बिहारी-लालजी ने सन के पीछे कपास का होना बताया है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना बहुत होगा कि कवि ने अपने या दूसरों के अनुभव से काम नहीं लिया, और इस प्रकार प्रकृति के साथ अन्याय कर डाला। शृंगार-सतसई के कर्त्ता ने इसी भाव को इस दोहे में इस प्रकार दिखाया है—

"कित चित गोरी जो भयो, ऊख रहरि के नास।
अजहूँ अरी हरी हरी, जहँ तहँ खरी कपास॥"

और अरहर के कट जाने पर भी कपास के पौधों का जहाँ तहाँ हरा रहना वर्णन किया है जो ठीक ही है।

कवि देवजी ने रसबिलास में "कसमीर की किसोरी" का वर्णन करते हुए लिखा है—"जीवन के रंग भरी इंगुर से अंगनि पै एड़िन लौं आँगी छाजै छबिन की भीर की!" ऐसा जान पड़ता है कि कविजी ने किसी से सुन लिया होगा कि कश्मीर की युवतियों का रङ्ग बहुत लाल होता है। ईंगुर से अच्छा लाल रंग कविजी के ध्यान में न आया होगा। इसलिए उन्होंने उसके अंगों की उपमा ईंगुर से दे दी। यदि अमेरिका के रेड इण्डियन की उपमा ईंगुर से दी जाती तो उपयुक्त हो सकता था। पर "कसमीर की किसोरी" के अंग की उपमा ईंगुर से देना सर्वथा अनुचित और अनुपयुक्त है। हाँ यदि उनके कोमल कपोलों की उपमा किसी अच्छे गहरे लाल रंग से देते तो हो सकता था; पर वह भी सर्वथा ठीक न होता। उसकी उपमा गहरे गुलाबी रंग या सेव की ललाई से देना उपयुक्त और प्रकृति-संगत होता।

यह सब कहने का तात्पर्य इतना ही है कि कवि को अपनी कल्पना के आगे प्रकृति का गला घोटने या कम से कम उसके सर्वथा प्रतिकूल बातें कहने का अधिकार नहीं है।

यहाँ पर हम कवियों के प्रकृति के चित्र-चित्रण के दो एक अच्छे उदाहरण देकर यह दिखाना चाहते हैं कि उन्होंने

प्रकृति के अनुभव और निरीक्षण के साथ अपनी कल्पना को भी कैसे सुचारु रूप से सज्जित किया है।

शरद ऋतु का वर्णन करते हुए सेनापति कहते हैं—

"कातिक की राति थोरी थोरी सियराति सेना-
पति को सुहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानो मोती अनगन हैं॥
उदित विमल चंद चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध अरध गगन है।
तिमिर हरन भयो सेत है बरन सब,
मानहुँ जगत छीर सागर मगन है।"

देखिए, पंडित रामचंद्र शुक्ल ने बुद्ध-चरित्र में वसंत का कैसा सुंदर वर्णन किया है—

"......................बन बाग तड़ाग लसैं चहुँ ओर।
लसे नवपल्लव सो लहरैं लहिकै तरु मंद समीर झकोर।
कहूँ नव किंशुक-जाल सो लाल लखात घने बनखंड के छोर।
परैं जहँ खेत सुनात तहाँ श्रमलीन किसानन को कल रोर।
लिए खरिहानन में सुथरे पथपार पयार के कूह लखात।
मढ़े नवमंजुल मौरन सों सहकार न अंगन माहिं समात।
भरी छबि सो छलकाय रहे, मृदु सौरभ लै बगरावत वात।
चरैं बहु ढोर कछारन में जहँ गावत ग्वाल नचावत गात।

लदे कलियान औ फूलन सों कचनार रहे कहुँ डार नवाय।
भरो जहँ नीर धरा रस भीजि कै दीनी है दूब की गोट चढ़ाय।
रह्यो कलगान बिहंगन को अति मोद भरो चहुँ ओर सों आय।
कढ़ैं लघु जंतु अनेक, भगैं पुनि पास की झाड़िन को झहराय।
डोलत हैं बहु भृंग पतंग सरीसृप मंगल मोद मनाय।
भागत झाड़िन सों कढ़ि तीतर पास कहूँ कछु आहट पाय।
बागन के फल पै कहुँ कीर हैं भागत चोंच चलाय चलाय।
धावत हैं धरिबे हित कीटन चाष घनी चित चाह चढ़ाय।
कूक उठै कबहूँ कल कण्ठ सों कोकिल कानन में रस नाय।
गीध गिरैं छिति पै कछु देखत, चील रहीं नभ में मँड़राय।
श्यामल रेख धरे तन पै इत सों उत दौरि के जाति गिसाय।
निर्मल ताल के तीर कहूँ बक बैठे हैं मीन पै ध्यान लगाय।
चित्रित मंदिर पै चढ़ि मोर रह्यो निज चित्रित पंख दिखाय।
ब्याह के बाजन बाजन की धुनि दूर के गाँव में देति सुनाय।
वस्तुन सों सब शांति समृद्धि रही बहु रूपन में दरसाय।
देखि इतो सुख-साज कुमार रह्यो हिय में अति ही हरखाय।"

वर्षा में नदियों के बढ़ने का कैसा सुंदर वर्णन पंडित श्रीधर पाठक करते हैं—

"बहु वेग बढ़े गदले जल सों तट-रूख उखारि गिरावती हैं।
करि घोर कुलाहल व्याकुल ह्वै थल-कोर-करारन ढावती हैं।
मरजादहि छाँड़ि चलीं कुलटा सम विभ्रम-भौंर दिखावती हैं।
इतराति उतावरी बावरी सी सरिता चढ़ि सिंधु को धावती हैं।"

वे ही कवि "काश्मीर सुखमा" में प्रकृति का वर्णन कैसे सुंदर शब्दों में करते हैं—

"प्रकृति इहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छबि छिन छिन धारति।
विमल-अंबु-सर मुकुरन महँ मुखबिंब निहारति।
अपनी छबि पै मोहि आप ही तन मन वारति।
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी।
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तर सारी।
विहरति विविध-विलास-भरी जोबन के मद सनि।
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति बनि ठनि।
मधुर मंजु छविपुंज छटा छिरकति बन-कुंजन।
चितवति, रिझवति, हँसति, उसति, मुसकाति, हरति मन।

× × × × ×

हिम सैनिन सों घिरयो अद्रिमंडल यह रूरौ।
सोहत द्रोनाकार सृष्टि-सुखमा सुख पूरौ।
बहु बिधि दृश्य अदृश्य कला-कौशल सों छायो।
रत्तन निधि नैसर्ग मनहुँ बिधि दुर्ग बनायौ।"

कविवर बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' मरघट का बीभत्स-पूर्ण वर्णन कैसा अच्छा करते हैं—

"कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥

विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गंधनि महकति।
कहुँ चरबी सों चटचटाति कहुँ दह दह दहकति॥
कहुँ फूकन हित धरयो मृतक तुरतहिं तहँ आयो।
परयो अंग अधजरयो कहूँ कोऊ कर खायो॥
कहूँ स्वान एक अस्थिखंड लै चाटि चिचोरत।
कहुँ कारी महि काक ठोर सों ठोकि टटोरत॥
कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत॥
जहँ तहँ मज्जा मांस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥
हरहरात इक दिस पीपल को पेड़ पुरातन।
लटकत जामें घंट घने माटी के बासन॥
वर्षा ऋतु के काज और हू लगत भयानक।
सरिता बहति सवेग करारे गिरत अचानक॥
ररत कहूँ मंडूक कहूँ झिल्ली झनकारैं।
काक-मंडली कहूँ अमङ्गल मंत्र उचारैं॥"

देखिए बाबा दीनदयाल गिरि ने चन्द्रमा पर कैसी अच्छी अन्योक्ति कही है—

"मैलो मृग धारे जगत नाम कलंकी जाग।
तऊ कियो न मयङ्क तुम सरनागत को त्याग॥
सरनागत को त्याग कियो नहिं ग्रसे राहु के।
लिये हिये में रहो तजो नहिँ कहे काहु के॥

बरनै दीनदयाल जोति मिस सो जस फैलो।
है हरि को मन सही कहैं नर पामर मैलो॥"
"पूरे जदपि पियूख तें हर-सेखर-आसीन।
तदपि पराये बस परे रहो सुधाकर छीन॥
रहो सुधाकर छीन कहा है जो जग वंदत।
केवल जगत बखान पाय न सुजान अनंदत॥
बरनैं दीनदयाल चंद है हीन अधूरे।
जौं लगि नहिँ स्वाधीन कहा अमृत तें पूरे॥"

इन उदाहरणों से यह प्रकट है कि कवि ने अपने आत्मानुभव से काम लिया है और अपने प्रत्यक्ष ज्ञान को अपनी कल्पना, संवेदना और बुद्धि से रञ्जित करके एक ऐसा चित्र उपस्थित किया है जो मन पर अपना प्रभाव डालकर भिन्न भिन्न रसों का संचार करता हुआ कविता के रूप को प्रत्यक्ष उपस्थित करता है। इस प्रकार के ज्ञान और इसे निष्कपटतापूर्वक प्रकट करने की पटुता को 'कवि-कल्पना में सत्यता' का नाम दिया जाता है। परन्तु यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि कवि केवल उन्हीं बातों को नहीं कहता, जिनका प्रत्यक्षीकरण उसकी इन्द्रियों को होता है अथवा जो उसके मनोवेगों को उत्तेजित करती हैं। वह इसके आगे बढ़ जाता है और अपनी कल्पना से काम लेकर प्रकृति का ऐसा वर्णन करता है जो यद्यपि विज्ञान के प्रतिकूल नहीं होता, पर पग पग पर उसका अनुसरण भी न करके उसे अपनी विशेष छाप से, अपने विशेष

भाव से रंजित करता है। इसी को प्रकृति का कवितामय चित्रण कह सकते हैं।

वैज्ञानिक बातों का उपयोग भी कवि अपने ढंग पर करता है। किसी वनस्थली को देख कर मन में अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं। संसार परिवर्त्तनशील है। इस कारण वनस्थली में जहाँ पहले वृक्ष थे, वहाँ अब खुला मैदान हो गया है; जहाँ मैदान थे, वहाँ पेड़ लग गये हैं, जहाँ पहले छोटी छोटी नदियाँ बहती थीं, वहाँ अब सूखे नाले हैं; जहाँ सुंदर हरे-भरे मैदान थे, वहाँ नदियाँ बहने लगी हैं। इन बातों में थोड़े ही समय में परिवर्तन हो जाता है, पर पहाड़ों के नष्ट हो जाने या नये पहाड़ों के बनने में बहुत अधिक समय लगता है। इसी भाव को कवि भवभूति ने रामचंद्रजी के मुँह से कैसे अच्छे शब्दों में कहलाया है—

"सोहत हो प्रथम जहाँ पै सरि स्रोत मंजु
तहाँ अब विपुल पुलिन हरसावै है।
बिरल हो प्रथम विपिन तहाँ घनो भयो
जहाँ घनो तहाँ अब बिरल दिखावै है॥
बहु दिन पाछें विपरीत चिह्न देखन सों
यह कोऊ भिन्न वन शंक जिय आवै है।
जहाँ के तहाँ पै किन्तु अचल अचल हेरि
'सोई पंचवटी' विसवास ये दृढावै है॥"

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदासजी ने चित्रकूट में पयस्विनी नदी का वर्णन किया है—

"रघुबर कहेउ लखन भल घाटू।
करहु कतहुँ अब ठाहर ठाटू॥
लखन दीख पय उतर करारा।
चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा॥
नदी पनच सर सम दम दाना।
सकल कलुष कलिसाउज नाना।
चित्रकूट जनु अचल अहेरी।
चुकइ न घात मार मुठभेरी॥
अस कहि लखन ठाँव दिखरावा।
थल बिलोकि रघुबर मन भावा।"

इससे यह प्रकट होता है कि नाले का धनुषाकार रूप देखकर कवि अपने विचारों को रोक न सका और वह नाले का वर्णन भूल कर अपने भाव के दिखाने में, अपने विचारों के प्रकट करने में लग गया। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि कवि के विचारों तथा भावों के लिए चारों ओर सामग्री प्रस्तुत है; और यद्यपि उसका उपयोग या अनुभव करने में कवि की ज्ञानेंद्रियाँ ही उसकी सहायक हैं; तथापि वे वहीं जायँगी, जहाँ अनुकूल सामग्री उपस्थित होगी और जहाँ कवि को अपनी कल्पना उत्तेजित करने तथा उस कल्पना को खेलने कूदने का पूरा अवकाश मिल सकेगा। इससे यह सिद्धांत

निकलता है कि कवि जितना बड़ा होगा, वह उतना ही गंभीर विचार करनेवाला, तत्त्वज्ञ या दार्शनिक होगा। अतएव जितने नए विचार संसार में उत्पन्न होंगे या जितनी नई वैज्ञानिक खोज होगी, सब उसके लिये आवश्यक और मनोमुग्धकारी होगी। सबका प्रभाव उस पर पड़ेगा और सबको वह अपने साँचे में ढालने का उद्योग करेगा। मनुष्यों की आशाओं, मनोरथों, उद्देश्यों आदि पर इन विचारों या खोजों का भला बुरा जो कुछ प्रभाव पड़ेगा, सब पर उसका ध्यान जायगा; और चाहे वह अपनी कविता में उनका प्रत्यक्ष उल्लेख न करे, पर फिर भी उसकी कविता किसी न किसी और सूक्ष्म से सूक्ष्म रीति पर उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सकेगी। अतएव यह कहना कि विज्ञान की बातों से कवि का संबंध नहीं है, उचित नहीं है। वह उसके व्यापक प्रभाव से बच नहीं सकता। यदि कवि दार्शनिक विचारों का मनुष्य हुआ, तो वह विज्ञान की बातों का विरोध किए बिना न रह सकेगा। आजकल जब कि नित्य नए आविष्कार और अनुसंधान हो रहे हैं और विचारों का बवंडर सा चल रहा है, कविता और विज्ञान में यदि कुछ विरोध देख पड़े तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। विचारों के विकास में मनोवेग बुद्धि के साथ साथ नहीं बने रहते। वे पीछे रह जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि कवि साधारणतः पुराने विचारों का कट्टर पक्षपाती बना रहता है। उसे नए तथा अपरिचित विचारों से एक प्रकार

की घृणा सी हो जाती है। ज्ञान या विद्या को मनोवेगों के रूप में परिवर्तित होने में समय की अपेक्षा होती है। यह काम सहसा नहीं हो सकता। अतएव किसी प्रतिभाशाली कवि की एक बड़ी पहचान यह है कि वह इस परिवर्तन का अनुभव करे, उसकी शक्ति का अनुमान करे और वैज्ञानिक ज्ञान के आध्यात्मिक अर्थ को समझ कर उसे चरितार्थ करने में सहायक हो।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह तात्पर्य निकलता है कि वह कवि जो दार्शनिक नहीं है अथवा वह दार्शनिक जो कवि नहीं है, उन दोनों ही को इस बात का पूरा पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जो कुछ सिद्धांत वे स्थिर करते हों, और उस सिद्धांत के लिये जो कारण वे उपस्थित करते हों वे दोनों ही दृढ़ नींव पर स्थित हों। इसमें संदेह नहीं कि कवि को अपनी कल्पना का प्रयोग करने में बहुत कुछ स्वतन्त्रता होती है। वह उसके द्वारा सौंदर्य की सृष्टि करके हममें आनंद का उद्रेक करना चाहता है। पर ज्योंही वह उपदेश देने में प्रवृत्त होता है, त्योंही हमें इस बात की अपेक्षा होती है कि उसके उपदेश केवल भावना को आकर्षित करनेवाले और मन को स्पर्श करनेवाले ही न हों, वे बुद्धि को भी संतुष्ट करें।

हिंदी काव्य में इस प्रकार की रचना का बाहुल्य है। अन्योक्तियों को इसी प्रकार की रचना के अंतर्गत गिनना चाहिए। उपदेश देने की इस इच्छा ने हिंदी साहित्य में

इतना उत्कट रूप धारण किया है कि कवियों को प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन करने में भी इस प्रवृत्ति ने अपने पथ से भ्रष्ट कर दिया। गोस्वामी तुलसीदासजी में भी यह बात बहुत पाई जाती है। रामचरितमानस के किष्किंधाकांड में वर्षा और शरद् का जो वर्णन दिया है, वह इन ऋतुओं का प्राकृतिक वर्णन न होकर उपदेश का भांडार हो गया है। दो ही एक उदाहरण यथेष्ट होंगे। यथा—

"दामिनि दमक रही घन माहीं।
खल की प्रीति जथा थिर नाहीं।"
"क्षुद्र नदी भरि चली तोराई।
जस थोरेहु धन खल बौराई।"
"उदित अगस्त पंथ जल सोखा।
जिमि लोभहि सोखइ संतोषा।"
"बूँद अघात सहैं गिरि कैसे।
खल के बचन संत सह जैसे।"

उपदेश देने और प्रकृति का वर्णन करने में बड़ा अंतर है। उपदेश देना बुरा नहीं, परंतु प्राकृतिक वर्णन में उसी का बाहुल्य होने से उस वर्णन का उद्देश नष्ट हो जाता है। उपदेश देने और कविता में दार्शनिक बातों के लाने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वहाँ कल्पना मनमाना काम न करने पावे। जो बातें दार्शनिक सिद्धांत की हैं, जिनमें मनोविज्ञान आदि शास्त्रों के तत्त्वों का समावेश है, उनको कवि अपनी कल्पना के अनुसार

जैसा चाहे, वैसा रूप नहीं दे सकता। उन सिद्धांतों को सामने रखकर उनके अनुकूल कल्पना को अपना कर्त्तव्य पालन करने में स्वतंत्रता देना सर्वथा उपयुक्त होगा। अतएव यह बात सिद्ध हुई कि कवि-कल्पना में विज्ञान का स्थान सहायक का है, विरोधी या शत्रु का नहीं। कवि प्रत्येक प्रकार की सत्यता का उपयोग कर सकता है, यदि वह उसे सुंदरता का रूप देकर कविता के गुणों से विभूषित कर सके। एक विद्वान् का कथन है कि संसार में कोई ऐसा सत्य नहीं है जिसे मनुष्य जान सकता हो, पर जो कविता के रूप में उपस्थित न किया जा सकता हो, चाहे वह प्रकृति के व्यापार का कोई चित्र हो, या बुद्धि की कोई विभावना हो, या मानव-जीवन से संबंध रखनेवाली कोई घटना हो, या मनोविकारों का कोई तथ्य हो, या कोई नैतिक भावना हो या आध्यात्मिक जगत् की झलक हो। इनमें से कोई भी विषय कविता के रूप में प्रदर्शित किया जा सकता है। आवश्यकता इतनी ही है कि वह केवल ऐंद्रिय ज्ञान का विषय न हो, या बुद्धि का एक प्रत्यय मात्र न हो जिसका मन में किसी प्रकार ग्रहण हो जाय; किंतु उसे उन स्थितियों से निकलकर कल्पना के सजीव मूर्तिमान् रूप में प्रत्यक्त होना चाहिए। इस प्रकार सजीव होकर वह मनुष्य के रागों, भावों और मनोवेगों को ही उत्तेजित नहीं करता; किंतु मनुष्य के सब भावों, इंद्रियों और अवयवों में एक अद्भुत प्रोत्साहन का संचार करता है। कवि-कल्पना

में यही बात सत्यता कहलाती है जिसकी समता वैज्ञानिक सत्यता नहीं कर सकती।

हम लिख चुके हैं कि कवि को किस प्रकार प्रकृति का अनुसरण करना चाहिए और अपने भावों को प्रकट करने में कैसे उसके प्रतिकूल न जाकर उसे अपना सहायक बनाना चाहिए। अब हम यह विचार करना चाहते हैं कि कवि के मनोवेगों के साथ प्रकृति का संबंध किस प्रकार का होता है और उसे किस प्रकार प्रकृति को अपने काम में लाना चाहिए। भिन्न भिन्न कवियों में प्रकृति-दर्शन से उत्पन्न भाव भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं। कुछ कवियों को प्रकृति वह निर्मल, सहज और स्वच्छ आनंद देनेवाली होती है जो सभी साधारण मनुष्य उसके दर्शन और संसर्ग मात्र से उठाते हैं, जैसा कि पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने अपने "प्रियप्रवास" के आरम्भ में वर्णन किया है—

कविता और प्रकृति

"दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥
विपिन बीच विहंगम-वृंद का
कल निनाद विवर्धित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली
उड़ रही नभमंडल मध्य थी॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा
दश दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल-पादप-पुंज-हरीतिमा
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई॥
झलकने पुलिनों पर भी लगी
गगन के तल की वह लालिमा।
सरित औ सर के जल में पड़ी
अरुणता अति ही रमणीय थी॥"

इस प्रकार के वर्णन में ध्यान देने की बात इतनी ही है कि कवि को प्रकृति का जैसा रूप दिखाई दे रहा हो, उसे वह वैसा ही अपनी भाषा में चित्रित करे; उसे अपने भावों और विचारों से रंजित करने का ध्यान न रहे और न वह उससे किसी प्रकार के सिद्धांत या उपदेश निकालने का उद्योग करे। ऐसे वर्णन बहुत कम देखने में आते हैं। इनसे आनंद का उद्रेक प्रतिबिंबित होकर नहीं उत्पन्न होता, किंतु वह सीधे, बिना किसी आधार या आश्रय के उत्पन्न होता है।

दूसरे प्रकार के कवि प्रकृति से वह आनंद पाने के इच्छुक होते हैं जो उन्हें इंद्रियों द्वारा प्राप्त हो सकता है। ऐसे कवियों को प्रकृति की ओर आध्यात्मिक या गूढ़ भावनाओं से देखने की आवश्यकता नहीं होती। उन्हें उन भावनाओं से कोई प्रयोजन नहीं होता जो किसी चिन्तनशील आत्मा को वस्तुओं का बाह्य रूप देखकर उनमें अंतर्हित भावों के विचार

से उत्पन्न होती हैं। उन्हें तो प्राकृतिक सुंदरता का अनुभव करने भर से ही आनंद मिलता है और उसे प्रदर्शित करने में ही वे अपना कर्त्तव्यपालन समझते हैं। 'प्रियप्रवास' में पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने ऐसा वर्णन दिया है—

"लोनी लोनी सकल लतिका वायु में मंद डोलीं।
प्यारी प्यारी ललित लहरें भानुजा में विराजीं।
सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं।
कूलों कुंजों कुसुमित वनों क्यारियों ज्योति फैली॥"

उत्तररामचरित में लव का वर्णन भी इसी प्रकार का है—

"किंचित कोप के कारण सों
जिह आनन ओप अनूपम सोहै।
गुंजनि सिंजनि को धनु लै
जुग छोरनि मंजु टकोरत जो है॥
चंचल पंच सिखानि किये
बरसावत सैन पै बान विमोहै।
चूइ रह्यो रन रंग महा
यह बालक वीर बतावहु को है।"

तीसरे प्रकार के कवि वे हैं जो कविता में प्रकृति के नाना रूपों का प्रयोग केवल उपमा या उदाहरण के रूप में करते हैं। उनकी उपमाएँ प्राय: प्रकृति ही से ली जाती हैं, जैसे पद्माकर का कहना—"बिज्जु छटा सी अटा पै चढ़ी सुकटाछनि घालि कटा करती है।" इस प्रकार की कविता बहुत मिलती है।

पद पद पर इसके उदाहरण भरे पड़े हैं। इस संबंध में विचारने की बात केवल इतनी ही है कि कवि ने ऐसे प्राकृतिक उदाहरणों का अनुचित उपयोग तो नहीं किया है।

कविता में प्रकृति के प्रयोग का चौथा प्रकार उसे मनुष्यों के मनोवेगों या कार्यों की क्रीड़ास्थली की भाँति काम में लाना है। जिस प्रकार किसी ऐतिहासिक घटना या चित्र को अंकित करने में चित्रकार पहले घटनास्थल का एक स्थूल चित्र अंकित करके तब उसमें मुख्य घटना को चित्रित करता है, उसी प्रकार कवि मनुष्य के क्रिया-कलापों का वर्णन करने के पूर्व उसके क्रियाक्षेत्र के प्राकृतिक दृश्य का वर्णन करता है। इसके लिए कभी कवि किसी स्थान का और कभी किसी समय का वर्णन करता है; और इसके अनंतर वह अपने मुख्य विषय पर आकर अपनी कविता के उद्देश की ओर अग्रसर होता है। कथानक के लिखने में इस प्रकार प्रकृति का प्रयोग विशेषतः किया जाता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात यही है कि प्राकृतिक दृश्य के वर्णन में मस्त होकर कवि कहीं अपने मुख्य विषय को न भूल जाय और उस दृश्य के वर्णन को आवश्यकता से अधिक विस्तृत न कर दे या उसे कोई तुच्छ स्थान न दे दे।

प्रकृति के प्रयोग का पाँचवाँ प्रकार वह है जिसमें केवल प्राकृतिक दृश्य का वर्णन ही मुख्य विषय होता है। इसमें वह सहायक या साधक का स्थान न ग्रहण करके स्वयं मुख्य या प्रधान स्थान ग्रहण करता है और उसमें मनुष्य आदि का

वर्णन केवल प्रकृति के चित्र को पूर्ण करने के लिये दिया जाता है। ऐसे प्राकृतिक वर्णनों में ऋतुओं का वर्णन या किसी वनस्थली आदि का वर्णन गिनाया जा सकता है। हिंदी में षट्ऋतुओं के वर्णन बहुत अधिक हैं, परंतु उनमें ऋतुओं का वर्णन करने की अपेक्षा नायक या नायिका के भावों को प्रदर्शित करने का ही विशेष उद्योग किया गया है, प्रकृति की छटा प्रदर्शित करने की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

इनके अतिरिक्त प्रकृति का वर्णन कवि की मनोवृत्तियों, भावनाओं या विचारों पर बहुत कुछ निर्भर रहता है। कहीं तो वह उसमें ईश्वर के अनिवार्य नियमों का अनुभव करता है, कहीं वह उसमें क्रूरता, असहिष्णुता, कठोरता आदि का प्रत्यक्ष दर्शन करता है और कहीं उसमें सहानुभूति, सहकारिता और आध्यात्मिकता के तत्त्वों का साक्षात् रूप देखता है। प्रकृति की ये भिन्न भिन्न भावनाएँ और रूप कवि के स्वभाव के आश्रित रहते हैं। सारांश यह है कि वह प्रकृति में अपने स्वभाव का प्रतिबिंब ढूँढ़ता है और उसे उसी रूप में देखकर अपने मनोनुकूल उसका वर्णन करता है।

कविता की व्यंजन-शक्ति

अतएव यह सिद्धांत निकलता है कि कविता में एक ऐसी शक्ति है जिससे वह इंद्रिय-गोचर सौंदर्य, मानवी जगत् के अनुभव तथा प्रकृति के नाना रूपों के आध्यात्मिक भाव को हमारे सामने उपस्थित करती है। कविता के अभाव में हम इस अनुभूति

से वंचित रह जाते हैं। हम सांसारिक व्यापारों में इतने व्यग्र रहते हैं कि कविता की इस शक्ति के संपादन में असमर्थ होते हैं। सच्चा कवि वही है जिसमें वस्तुओं के इंद्रिय-गोचर सौंदर्य और उनके आध्यात्मिक भाव को समझने और अनुभव करने की पूर्ण शक्ति हो, और जो कुछ वह देखता या अनुभव करता हो, उसे इस प्रकार से व्यक्त करे जिससे हमारी कल्पनाएँ और भावनाएँ भी उत्तेजित होकर हमें उसी की भाँति देखने, समझने और अनुभव करने में समर्थ कर दें। अतएव कवि हमें कुछ काल के लिये सांसारिक व्यापारों की व्यग्रता से निवृत्त करके हमारा ध्यान जगत् की सुंदरता और मनोहरता की ओर आकर्षित करता है और हमारे सामने एक ऐसी निधि रख देता है जिसे हम नित्य प्रति की झंझटों तथा सांसारिक स्वार्थसाधन के व्यवसायों में मग्न रहने के कारण आँखों के रहते भी देखने में, कानों के रहते भी सुनने में और हृदय के रहते भी अनुभव करने में असमर्थ होते हैं। कवि ईश्वरीय सृष्टि का रहस्य समझने में समर्थ होता है। किसी सुंदर और रमणीय स्थल को हम देखते हैं और आगे बढ़ जाते हैं। एक बार नहीं अनेक बार ऐसा होता है। पर चित्रकार की आँखें उसकी सुंदरता को चट ताड़ लेती हैं और वह उसे चित्रित कर देता है। उस चित्र को देखकर हमारा ध्यान भी उस दृश्य की ओर आकर्षित होता है और हम उसकी सुंदरता का अनुभव करने में समर्थ होते हैं।

इसी प्रकार कवि भी संसार की वस्तुओं की मनोहरता और सुंदरता को अपनी सूक्ष्म दृष्टि से देखता और उनका आध्यात्मिक भाव समझकर हमें उनका ज्ञान अपनी मनोहारिणी और ललित भाषा में कराता है। तब हम भी उसकी सुंदरता और मनोहरता समझने लगते हैं और उसके आध्यात्मिक भाव की ओर आकर्षित होते हैं। इस प्रकार कवि हमें केवल वस्तुओं की सुंदरता का ही भाव प्रदान नहीं करता, बल्कि हमें इस योग्य भी बना देता है कि हम कवि की दिव्यदृष्टि की सहायता से जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं को देख और समझ सकें तथा कवि की अलौकिक शक्ति का स्वयं अनुभव कर सकें।

कवियों के महत्त्व का आदर्श

इस प्रकार कविता हमारे जीवन की भिन्न भिन्न अवस्थाओं से संबंध स्थापित करती है और अपनी क्रीड़ा के लिये ऐसे विषयों को चुन लेती है जो सुगमता से उसे अपना कर्त्तव्य पालन करने में सहायता देते हैं। इस विचार से प्रत्येक प्रकार की कविता, यहाँ तक कि तुच्छ से तुच्छ विषयों पर भी की गई कविता, जिसे कवि अपनी शक्ति से मनोहारिणी बना लेता है, अपने भाव को चरितार्थ करती और अपना महत्त्व प्रदर्शित करती है। परंतु यदि कविता कल्पनाओं और मनोवेगों के रूप में जीवन की व्याख्या है, तो उसके वास्तविक महत्त्व की कसौटी उस शक्ति का महत्त्व है जो वह जीवन के महत्त्वपूर्ण और स्थायी विषयों के वर्णन में—ऐसी वस्तुओं के

वर्णन में जिनका संबंध हमारे विशेष अनुभवों और अनुराग-विराग से होता है—प्रदर्शित करती है। कविता भी एक कला है; अतएव उसकी परीक्षा भी उस कला के नैपुण्य और उपकार से ही होनी चाहिए। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि काव्य-कला आत्मा की बाह्य मूर्त्ति है। वह विचारों और भावों की वाहक है; और जितना ही वह आत्मा के विचारों और भावों को प्रकट करती है, उतना ही उसका महत्त्व बढ़ता है। इसका यह आशय नहीं कि कविता का उद्देश केवल आनंद का उद्रेक करना है। यह तो सभी कलाओं का उद्देश है, और कविता इसका अपवाद नहा। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि उस आनंद की मात्रा विषय की उपयुक्तता और उसके प्रतिपादन की रीति पर आश्रित रहती है। कुछ लोग कह बैठते हैं कि किसी कला का आदर इस-लिए होना चाहिए कि वह एक कला है, इसलिए नहीं कि वह आनंद का उद्रेक करने में समर्थ होती है। ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन तो वे ही लोग करते हैं जिनमें कला-कौशल का नैपुण्य नाममात्र को ही होता है, या होता ही नहीं। बड़े बड़े कवियों ने इस सिद्धांत को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा है। उन लोगों का तो यही कहना है कि कविता जीवन से, जीवन की और जीवन के लिये है। इसी भाव को लेकर उन्होंने कविता की है। जीवन का भाव समझने और उसकी व्याख्या करने में जिस शक्ति का परिचय वे दे सके हैं, उसी के अनुसार

उनका महत्त्व स्थापित हुआ है। आर्नल्ड का कहना है कि कविता सचमुच जीवन की आलोचना है; और कवि का महत्त्व इसी में है कि वह अपने उच्च विचारों का प्रयोग जीवन-व्यवहार में इस प्रकार करे कि वह सौंदर्य का अनुभव कराके प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हो। सदाचार और नीति की बातें धर्म-संप्रदायों, मत-मतांतरों तथा भिन्न भिन्न पंथों आदि के हाथ में पड़ जाने से प्रायः संकुचित और नीरस हो जाती हैं। कभी कभी उनका विरोध करने या उनकी उपेक्षा करने में भी कविता चरितार्थ होती है। कविता द्वारा प्रदर्शित होने पर उन बातों के प्रतिपादित विषय का ध्यान न करके उनके रूप-सौष्ठव और उनकी मनोहारिता पर ही हम मुग्ध हो जाते हैं। सदाचार और नीति के विरोध, तथा उनकी उपेक्षा या उनके अभाव से कविता की अंगपुष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि सदाचार और नीति की बातें जीवन से भिन्न नहीं हो सकतीं। उनका विरोध करना जीवन का विरोध करना है, उनकी उपेक्षा करना जीवन की उपेक्षा करना है और उनके अभाव से संतुष्ट होना जीवन को नीरस बना देना है। अतएव हमें यह मानने में संकोच न करना चाहिए कि कवि का महत्त्व उसके प्रतिपाद्य विषय, उसके विचार, उसके धर्मभाव और उसके प्रभाव पर अवलंबित रहता है। कोई मनुष्य तब तक श्रेष्ठ कवि नहीं हो सकता, जब तक वह अच्छा तत्त्वदर्शी भी न हो। पर इसका तात्पर्य यह

वर्णन में जिनका संबंध हमारे विशेष अनुभवों और अनुराग-विराग से होता है—प्रदर्शित करती है। कविता भी एक कला है; अतएव उसकी परीक्षा भी उस कला के नैपुण्य और उपकार से ही होनी चाहिए। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि काव्य-कला आत्मा की बाह्य मूर्त्ति है। वह विचारों और भावों की वाहक है; और जितना ही वह आत्मा के विचारों और भावों को प्रकट करती है, उतना ही उसका महत्त्व बढ़ता है। इसका यह आशय नहीं कि कविता का उद्देश केवल आनंद का उद्रेक करना है। यह तो सभी कलाओं का उद्देश है, और कविता इसका अपवाद नहीं। हमारे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि उस आनंद की मात्रा विषय की उपयुक्तता और उसके प्रतिपादन की रीति पर आश्रित रहती है। कुछ लोग कह बैठते हैं कि किसी कला का आदर इसलिए होना चाहिए कि वह एक कला है, इसलिए नहीं कि वह आनंद का उद्रेक करने में समर्थ होती है। ऐसे सिद्धांत का प्रतिपादन तो वे ही लोग करते हैं जिनमें कला-कौशल का नैपुण्य नाममात्र को ही होता है, या होता ही नहीं। बड़े बड़े कवियों ने इस सिद्धांत को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखा है। उन लोगों का तो यही कहना है कि कविता जीवन से, जीवन की और जीवन के लिये है। इसी भाव को लेकर उन्होंने कविता की है। जीवन का भाव समझने और उसकी व्याख्या करने में जिस शक्ति का परिचय वे दे सके हैं, उसी के अनुसार

उनका महत्त्व स्थापित हुआ है। आर्नल्ड का कहना है कि कविता सचमुच जीवन की आलोचना है; और कवि का महत्त्व इसी में है कि वह अपने उच्च विचारों का प्रयोग जीवन-व्यवहार में इस प्रकार करे कि वह सौंदर्य का अनुभव कराके प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ हो। सदाचार और नीति की बातें धर्म-संप्रदायों, मत-मतांतरों तथा भिन्न भिन्न पंथों आदि के हाथ में पड़ जाने से प्रायः संकुचित और नीरस हो जाती हैं। कभी कभी उनका विरोध करने या उनकी उपेक्षा करने में भी कविता चरितार्थ होती है। कविता द्वारा प्रदर्शित होने पर उन बातों के प्रतिपादित विषय का ध्यान न करके उनके रूप-सौष्ठव और उनकी मनोहारिता पर ही हम मुग्ध हो जाते हैं। सदाचार और नीति के विरोध, तथा उनकी उपेक्षा या उनके अभाव से कविता की अंगपुष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि सदाचार और नीति की बातें जीवन से भिन्न नहीं हो सकतीं। उनका विरोध करना जीवन का विरोध करना है, उनकी उपेक्षा करना जीवन की उपेक्षा करना है और उनके अभाव से संतुष्ट होना जीवन को नीरस बना देना है। अतएव हमें यह मानने में संकोच न करना चाहिए कि कवि का महत्त्व उसके प्रतिपाद्य विषय, उसके विचार, उसके धर्मभाव और उसके प्रभाव पर अवलंबित रहता है। कोई मनुष्य तब तक श्रेष्ठ कवि नहीं हो सकता, जब तक वह अच्छा तत्त्वदर्शी भी न हो। पर इसका तात्पर्य यह

नहीं है कि प्रतिभाशाली कवि के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने धर्म-भाव को प्रत्यक्षरूप से प्रकट करे, नीति और सदाचार के उपदेश देने का उद्देश अपने सन्मुख रखकर कविता करने बैठे। यह कार्य तो किसी उपदेशक या धार्मिक नेता का है। कवि का काम शिक्षा देना और पथ-प्रदर्शक होना नहीं है। उसका काम तो उत्तेजित करना, सजीव करना, उच्छ्‌वसित करना, शक्तिसंपन्न करना और प्रसन्न करना है। कविता के संबंध में इन बातों को कदापि न भूलना चाहिए। तात्त्विक-सिद्धांतों की नींव पर कविता का प्रासाद खड़ा करना त्याज्य नहीं है। ध्यान केवल इस बात का रहना चाहिए कि ऐसा करने में कविता कहीं अपने गुणों से विहीन न हो जाय, अपनी सुंदरता, अपनी मनोहरता न खो बैठे। भले ही उपदेश दिया जाय, सदाचार की बातें कही जायँ, नीति का भाव हृदय-पटल पर जमाया जाय, पर कविता की सुंदरता और मनोहारिता का नाश करके यह सब न किया जाय, नहीं तो कविता कविता न रह जायगी, सूखे उपदेश मात्र रह जायँगे। दार्शनिक भले ही अपने दर्शनशास्त्र की बातें कहे, पर कल्पना और मनोवेगों के रूप में कहे, सुंदरतापूर्वक कहे, मनोहारिणी उक्तियों के भीतर भरकर कहे, सारांश यह कि कविता के रूप में कहे।

अतएव यह सिद्धांत निकलता है कि कवि का महत्त्व, उसके विषय की महत्ता का, उसके विचारों की गहनता का,

उसकी नैतिक शक्ति का और उसकी प्रभावोत्पादकता का आश्रित है। कविता का विचार करने के लिये हमें कवि पर, उसके व्यक्तित्व पर, उसके सांसारिक अवेक्षण पर, उसकी जीवन की व्याख्या पर, उसकी विशेषता पर विचार करना चाहिए। उसकी कविता के सौंदर्य और उसकी काव्य-कला की कुशलता पर हम चाहे कितने ही मुग्ध क्यों न हों, पर हमें कविता के सिद्धांत-संबंधी इन विचारों की अवहेलना न करनी चाहिए।

---

(३) शैली का महत्त्व

अनेक विद्वानों का मत है कि सब प्रकार के काव्यों में जीवन-व्यापार के निरीक्षण द्वारा जिस संचित सामग्री को कवि अपने कौशल की सहायता से काव्य-कला का रूप देता है वह बुद्धि-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और रागात्मक-तत्त्व की आश्रित रहती है। बुद्धि-तत्त्व से अभिप्राय उन विचारों से है जिन्हें कोई लेखक या कवि अपने विषय के प्रतिपादन में प्रयुक्त करता और अपनी कृति में अभिव्यक्त करता है। कल्पना-तत्त्व से अभिप्राय मन में किसी विषय का चित्र अंकित करने की शक्ति से है, जिसे कवि या लेखक अपनी कृति में प्रदर्शित करके पाठकों के हृदय-चक्षु के सम्मुख भी वैसा ही चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न करता है। रागात्मक तत्त्व से अभिप्राय उन भावों से है जिनको कवि या लेखक का काव्य-विषय स्वयं उसके हृदय में उत्पन्न करता और जिनका वह अपनी कृति-द्वारा अपने पाठकों के हृदय में संचार करना चाहता है। ये तीनों तत्त्व सब प्रकार के काव्य के, चाहे वह कविता हो, चाहे गद्य काव्य हो, आधार, प्राण या अंतरात्मा हैं। इनके बिना काव्य

काव्य के तत्त्व

अपने सहज, सुचारु और मनोमुग्धकारी रूप को धारण नहीं कर सकता, चाहे उसमें बाहरी सज-धज या बनावट-सजावट कितनी ही अधिक और कितनी ही अच्छी क्यों न हो। इन तीनों तत्त्वों का परस्पर बड़ा घनिष्ठ संबंध है और काव्य में इनका ऐसा संमिश्रण हो जाता है कि इनका विश्लेषण करके इन्हें अलग अलग करना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव भी है। प्राय: देखने में आता है कि एक ही पदार्थ के देखने पर मन में विचार, कल्पना तथा मनोवेगों की एक साथ उत्पत्ति होती है। यद्यपि ये तीनों बातें भिन्न भिन्न मानसिक क्रियाओं के व्यापारों के भिन्न भिन्न रूप हैं पर कहाँ एक की समाप्ति होकर दूसरे का आरंभ होता है अथवा उनकी उत्पत्ति का क्रम किस प्रकार है, इसका निर्णय करना और एक विभाजक रेखा खींचकर उनकी सीमाएँ निर्धारित करना असंभव है।

कुछ विद्वानों का मत है कि इन तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त एक चौथा तत्त्व मानना भी आवश्यक है। उनका कहना है कि कवि या लेखक की सामग्री कैसी ही उत्तम क्यों न हो और उसके भाव, विचार और कल्पना चाहे कितनी ही परिपक्व और अद्भुत क्यों न हो, जब तक उसकी कृति में रूप-सौंदर्य नहीं आयेगा, जब तक वह अपनी सामग्री को ऐसा रूप न दे सकेगा जो अनुक्रम, सौष्ठव और प्रभावोत्पादकता के सिद्धांतों के अनुकूल हो, तब तक उसकी कृति काव्य न कहला

सकेगी। अतएव चौथा तत्त्व अर्थात् रचना-चमत्कार भी नितांत आवश्यक है।

शैली का रूप

रचना-चमत्कार का दूसरा नाम शैली है। किसी कवि या लेखक की शब्द-योजना, वाक्यांशों का प्रयोग, वाक्यों की बनावट और उनकी ध्वनि आदि का नाम ही शैली है। किसी किसी के मत से शैली विचारों का परिधान है। पर यह ठीक नहीं; क्योंकि परिधान का शरीर से अलग और निज का अस्तित्व होता है, उनकी उस व्यक्ति से भिन्न स्थिति होती है। जैसे मनुष्य से विचार अलग नहीं हो सकते, वैसे ही उन विचारों को व्यंजित करने का ढंग भी उनसे अलग नहीं हो सकता। अतएव शैली को विचारों का परिधान न कहकर उनका वाह्य और प्रत्यक्ष रूप कहना बहुत कुछ संगत होगा, अथवा उसे भाषा का व्यक्तिगत प्रयोग कहना भी ठीक होगा।

कविता की अंतरात्मा का हम विशेष रूप से विवेचन कर चुके हैं। अब उसके वाह्य या प्रत्यक्ष रूप के विषय में भी कुछ विचार करना आवश्यक है; क्योंकि भाव, विचार और कल्पना यदि हमारे ही मन में उत्पन्न होकर लीन हो जायँ, तो संसार को उनसे कोई लाभ न हो और हमारा जीवन व्यर्थ हो जाय। मनुष्य समाज में रहना चाहता है। वह उसका अंग है। उसी में उसके जीवन और कर्तव्य का साफल्य है। वह

अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को दूसरों पर प्रकट करना चाहता है और दूसरों के भावों, विचारों और कल्पनाओं को स्वयं जानना चाहता है। सारांश यह है कि मनुष्य-समाज में भावों, विचारों और कल्पनाओं का विनिमय नित्य प्रति होता रहता है। भावों, विचारों और कल्पनाओं का यही विनिमय संसार के साहित्य का मूल है। इसी आधार पर साहित्य का प्रासाद खड़ा होता है। जिस जाति का यह प्रासाद जितना ही मनोहर, विस्तृत और भव्य होगा, वह जाति उतनी ही उन्नत मानी जायगी। इसके अतिरिक्त हमें आपस के नित्य के व्यवहार में कभी दूसरों को समझाना, कभी उन्हें अपने पक्ष में करना और कभी प्रसन्न करना पड़ता है। यदि वे शक्तियाँ अपने स्वाभाविक रूप में वर्तमान न हों तो मनुष्यों के सब काम रुक जायँ। साहित्यशास्त्र का काम इन्हीं शक्तियों को परिमार्जित और उत्तेजित करके उन्हें अधिक उपयोगी बनाना है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि भाव, विचार और कल्पना तो हममें नैसर्गिक अवस्था में वर्त्तमान रहती है; और साथ ही उन्हें व्यक्त करने की स्वाभाविक शक्ति भी हममें रहती है। अब यदि उस शक्ति को बढ़ा कर, संस्कृत और उन्नत करके, हम उसका उपयोग कर सकें तो उन भावों, विचारों और कल्पनाओं के द्वारा हम संसार के ज्ञान-भांडार की वृद्धि करके उसका बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं। इसी शक्ति को साहित्य में शैली कहते हैं।

हम कह चुके हैं कि मनुष्य को प्राय: दूसरों को समझाना, किसी कार्य में प्रवृत्त कराना अथवा प्रसन्न करना पड़ता है। ये तीनों काम मनुष्य की भिन्न भिन्न तीन मानसिक शक्तियों से सम्बन्ध रखते हैं। समझना या समझाना बुद्धि का काम है, प्रवृत्त होना या करना संकल्प का काम है और प्रसन्न करना या होना भावों का काम है। परन्तु प्रवृत्त करने या होने में बुद्धि और भाव दोनों सहायक होते हैं। इन्हीं के प्रभाव से हम संकल्प-शक्ति को मनोनीत रूप देने में समर्थ होते हैं। बुद्धि की सहायता से हम किसी बात का वर्णन, कथन या प्रतिपादन करते हैं; और भावों की सहायता से काव्यों की रचना कर मनुष्य का समस्त संसार से रागात्मक संबन्ध स्थापित करते हैं। इसलिए शैली की विशेषता इसी बात में होती है कि मनुष्य के ऊपर कहे हुए तीनों कामों को पूरा करने के लिए हम अपनी भाषा को, अपने भावों, विचारों और कल्पनाओं को अधिकाधिक प्रभावशाली बना सकें। इसके लिए यह आवश्यक है कि हम इस बात का विचार करें कि यह प्रभाव कैसे उत्पन्न हो सकता है।

शब्दों का महत्त्व

भाषा ऐसे सार्थक शब्द-समूहों का नाम है जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। अतएव भाषा का मूल आधार शब्द हैं जिन्हें उपयुक्त रीति से

प्रयुक्त करने के कौशल को ही शैली का मूल तत्त्व समझना चाहिए। प्रायः देखने में आता है कि जिन लेखकों की लेखन-शैली प्रौढ़ नहीं है, जो अभी अपने साहित्यिक जीवन की प्रारंभिक अवस्था में ही हैं, उनकी कृतियों में शब्दों का बाहुल्य और भावों तथा विचारों आदि की न्यूनता रहती है। ज्यों ज्यों उनका अनुभव बढ़ता जाता है और उनमें लेखन-शक्ति की वृद्धि होती जाती है, त्यों त्यों उनमें शब्दों की कमी और भावों की वृद्धि होती जाती है। मध्यावस्था में प्रायः शब्दों और भावों आदि में समानता आ जाती है और प्रौढ़ावस्था में भावों की अधिकता तथा शब्दों की कमी स्पष्ट देख पड़ती है। उस समय ऐसा जान पड़ता है कि मानों शब्दों और भावों में होड़ लगी हुई है। दोनों कवि या लेखक की कृति में अग्रसर होकर प्रधान स्थान ग्रहण करने के लिए उत्सुक हो रहे हैं। पर इस दौड़ में शब्द पीछे पड़ जाते हैं और भाव आगे निकल जाते हैं। एक ही भाव के लिए अनेक शब्द मिलने लगते हैं और लेखक या कवि उपयुक्त शब्दों को ग्रहण करने, सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों को प्रदर्शित करने और थोड़े में बड़ी बड़ी गम्भीर और भाव-पूर्ण बातें कहने में समर्थ होता है। अतएव प्रारम्भिक अवस्था में प्रायः शब्दाडंबर ही अधिक देख पड़ता है। उस समय लेखक को अपने भावों को स्पष्ट करने के लिए अनेक शब्दों को खोज खोजकर लाना और सजाना पड़ता है। इससे

प्राय: स्वाभाविकता की कमी हो जाती है और शब्दों की छटा में भी वैसी मनोहरता नहीं देख पड़ती। एक ही बात अनेक प्रकार के शब्दों और वाक्यों में घुमा-फिरा कर कहनी पड़ती है। पर प्रौढ़ावस्था में ये सब बातें नहीं रह जातीं। वहाँ तो एक शब्द के भी घटाने बढ़ाने की जगह नहीं रहती। जो लेखक या कवि विद्याव्यसनी नहीं होते, जिन्हें अपने विचारों को प्रौढ़ करने का अवसर नहीं मिलता, या जिनकी उस ओर प्रवृत्ति नहीं होती, उनमें यह दोष अन्त तक वर्तमान रहता है और उनकी कृति वाग्बाहुल्य से भरी रहती है। इसलिए लेखकों या कवियों को शब्दों के चुनाव पर बहुत ध्यान देना चाहिए। उपयुक्त शब्दों का प्रयोग सबसे आवश्यक बात है, और इस गुण को प्रतिपादित करने में उन्हें दत्तचित्त रहना चाहिए। इस कार्य में स्मरण-शक्ति बहुत सहायता देती है। शब्दों के आधार पर ही उत्तम काव्य-रचना हो सकती है। इस नींव पर यह सुन्दर प्रासाद खड़ा किया जा सकता है। अतएव यह आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है कि कवि या लेखक का शब्द-भांडार बहुत प्रचुर हो और उसे इस बात का भली भाँति स्मरण रहे कि मेरे भांडार में कौन कौन से रत्न कहाँ रखे हैं, जिसमें प्रयोजन पड़ते ही वह उन रत्नों को निकाल सके। ऐसा न हो कि उनको ढूँढ़ने में ही उसे बहुत सा समय नष्ट करना पड़े और अंत में झूठे या कांतिहीन रत्नों को इधर-उधर से मँगनी माँग कर अपना काम चलाना पड़े।

कवि या लेखक के लिए शब्द-भांडार का महत्त्व कितना अधिक है, यह इसी से समझ लेना चाहिए कि यूरोप में साहित्यालोचकों ने बड़े बड़े कवियों और लेखकों द्वारा प्रयुक्त शब्दों की गिनती तक कर डाली है और उससे वे उनके पांडित्य की थाह लेते हैं। हमारे यहाँ इस ओर अभी ध्यान नहीं गया है। परंतु जब तक ऐसा न हो, तब तक उनके भावों को व्यंजन करने की शक्ति और उसके ढंग के आधार पर ही हमें उनके विषय में अपने सिद्धांत स्थिर करने होंगे। हम किसी कवि या लेखक के ग्रंथ को ध्यानपूर्वक पढ़कर इस बात का पता लगा सकते हैं कि उसकी शक्ति कैसी है, उसने शब्दों का कैसा प्रयोग किया है और इस कार्य में वह कहाँ तक दूसरों से बढ़ गया या पीछे रह गया है। इसी प्रकार हम यह भी सहज ही में जान सकते हैं कि किस प्रकार के भाव प्रकट करने में कौन कहाँ तक कृतकार्य हुआ है। यह अनुमान करना कि सब विषयों पर लिखने के लिए सबके पास यथेष्ट शब्द-सामग्री होगी, उचित नहीं होगा। सब मनुष्यों का स्वभाव एक सा नहीं होता और न उनकी रुचि ही एक सी होती है। इस अवस्था में यह आशा करना कि सबमें सब विषयों पर अपने भाव प्रकट करने की एक सी शक्ति होगी, जान बूझ कर अपने को भ्रम में डालना होगा। संसार में हमको रुचि-वैचित्र्य का निरंतर साक्षात्कार होता रहता है; और इसी रुचि-वैचित्र्य के कारण लोगों के विचार

और भाव भी भिन्न होते हैं। अतएव जिसकी जिस बात में अधिक रुचि होगी, उसी के विषय में वह अधिक सोचे विचारेगा और अपने भावों तथा विचारों को अधिक स्पष्टता और सुगमता से प्रकट कर सकेगा। इसी कारण उस विषय से संबंध रखनेवाला उसका शब्द-भांडार भी अधिक पूर्ण और विस्तृत होगा। पर इतना होते हुए भी शब्दों के प्रयोग की शक्ति केवल रुचि पर निर्भर नहीं हो सकती। रुचि इस कार्य में सहायक अवश्य हो सकती है; पर केवल उसी पर भरोसा करने से शब्दों के प्रयोग करने की शक्ति नहीं आ सकती यदि हम कई भिन्न भिन्न पुरुषों को चुन लें और उन्हें गिने हुए सौ, दो सौ शब्द देकर अपनी अपनी रुचि के अनुसार अपने ही चुने हुए विषयों के संबंध में अपने अपने भावों तथा विचारों को प्रकट करने के लिए कहें, तो हम देखेंगे कि सामग्री की समानता होने पर भी उनमें से हर एक का ढंग निराला है। यदि एक में विचारों की गंभीरता, भावों की मनोहरता तथा भाषा का उपयुक्त गठन है, तो दूसरे में विचारों की निस्सारता, भावों की अरोचकता और भाषा की शिथिलता है; और तीसरे में भावों और विचारों की ओर से उदासीनता तथा वाग्बाहुल्य की ही विशेषता है। इसलिए केवल प्रयुक्त शब्दों की संख्या से ही किसी के पांडित्य की थाह लेना अनुचित और असंगत होगा। उन शब्दों के प्रयोग के ढंग पर विचार करना भी नितांत आवश्यक है। अर्थात् हमें इस बात का भी विवेचन

करना चाहिए कि किसी वाक्य में शब्द किस प्रकार सजाए गये हैं और उनको वाक्य-रूपी माला में चुनकर गूँथने में कैसा कौशल दिखाया गया है।

हमारे यहाँ शब्दों में शक्ति, गुण और वृत्ति ये तीन बातें मानी गई हैं। परंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि स्वयं शब्द कुछ भी सामर्थ्य नहीं रखते। सार्थक होने पर भी शब्द जब तक वाक्यों में पिरोए नहीं जाते, तब तक न तो उनकी शक्ति ही प्रादुर्भूत होती है, न उनके गुण ही स्पष्ट होते हैं और न वे किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करने में ही समर्थ होते हैं। उनमें शक्ति या गुण आदि के अंतर्हित रहते हुए भी उनमें विशेषता, महत्त्व, सामर्थ्य या प्रभाव का प्रादुर्भाव केवल वाक्यों में सुचारु रूप से उनके सजाए जाने पर ही होता है। अतएव हम हम वाक्यों के विचार के साथ ही इनका भी विचार करेंगे।

शैली के विवेचन में वाक्य का स्थान बड़े महत्त्व का है। रचना-शैली में इन्हीं पर निर्भर रहकर पूरा पूरा कौशल दिखाया जा सकता है और इसी में इनकी विशेषता अनुभूत हो सकती है। इस संबंध में सबसे पहली बात जिस पर हमें विचार करना चाहिए, शब्दों का उपयुक्त प्रयोग है। जिस भाव या विचार को हम प्रकट करना चाहते हैं, ठीक उसी को प्रत्यत्त करनेवाले शब्दों का हमें उपयोग करना चाहिए। बिना सोचे समझे शब्दों का अनुपयुक्त प्रयोग वाक्यों की

सुंदरता को नष्ट करता और लेखक के शब्द-भांडार की अपूर्णता अथवा उसकी असावधानी प्रकट करता है। अतएव वाक्यों में प्रयोग करने के लिए शब्दों का चुनाव बड़े ध्यान और विवेचन से करना चाहिए।

वाक्यों की विशेषता

इसके अनंतर हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि वाक्यों की रचना किस प्रकार से हो। वैयाकरणों ने वाक्यों के अनेक प्रकार बताए हैं और उनकी रीतियों तथा शुद्धि आदि पर भी विचार किया है। पर हमें वैयाकरण की दृष्टि से वाक्यों पर विचार नहीं करना है। हमें तो यह देखना है कि हम किस प्रकार वाक्यों की रचना और प्रयोग करके अधिक से अधिक प्रभाव उत्पन्न कर सकते हैं। इस प्रयोजन के लिए सबसे अधिक अच्छा वाक्य वह होता है जिसे हम वाक्योच्चय कह सकते हैं और जिसमें तब तक अर्थ स्पष्ट नहीं होता, जब तक वह वाक्य समाप्त नहीं हो जाता। हम उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करेंगे। नीचे लिखा वाक्य इसका अच्छा उदाहरण है—

"चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें, हमारे सब कष्टों का अंत यदि किसी बात से हो सकता है, तो वह केवल स्वराज्य से।"

इस वाक्य का प्रधान अंग "वह केवल स्वराज्य से (हो सकता है)" है, जो सबके अंत में आता है। इस अंतिम

अंश में कर्ता "वह" है। पहले के जितने अंश हैं, वे अंतिम वाक्यांश के सहायक मात्र हैं। वे हमारे अर्थ या भाव की पुष्टि मात्र करते हैं और पढ़नेवाले या सुननेवाले में उत्कंठा उत्पन्न करके उसके ध्यान को अंत तक आकर्षित करते हुए उसमें एक प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। यह पढ़ते ही कि "चाहे हम किसी दृष्टि से विचार करें" हम यह जानने के लिए उत्सुक हो जाते हैं कि लेखक या वक्ता क्या कहना चाहता है। दूसरे वाक्य को पढ़ते ही वह हमारी जिज्ञासा को संकुचित कर हमारा ध्यान एक मुख्य बात पर स्थिर करता हुआ मूल भाव को जानने के लिए हमारी उत्सुकता को विशेष जाग्रत कर देता है। अंतिम वाक्यांश को पढ़ते ही हमारा संतोष हो जाता है और लेखक का भाव हमारे मन पर स्पष्ट अंकित हो जाता है। ऐसे वाक्य पढ़नेवाले के ध्यान को आकर्षित करके उसे मुग्ध करने, उसकी जिज्ञासा को तीव्रता देने तथा आवश्यक प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं।

दूसरी बात जो वाक्यों की रचना में ध्यान देने योग्य है, वह शब्दों का संघटन तथा भाषा की प्रौढ़ता है। वाक्यों में इन दोनों गुणों का होना भी आवश्यक है। यदि किसी वाक्य में संघटन का अभाव हो, यदि एक वाक्यांश कहकर उसे समझाने या स्पष्ट करने के लिए अनेक ऐसे छोटे छोटे शब्द-समूहों का प्रयोग किया जाय जो अधिकतर विशेषणात्मक हों, तो उन छोटे छोटे वाक्यांशों की भूलभुलइयाँ में मुख्य भाव

प्राय: लुप्त सा हो जायगा; और वह वाक्य अपनी जटिलता के कारण पढ़नेवाले को निरुत्साहित कर उसकी जिज्ञासा को मंद कर देगा तथा किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न न कर सकेगा। अतएव ऐसे वाक्यों के प्रयोग से बचना चाहिए। साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वाक्योच्चय बहुत बड़े तथा लंबे न हों। उनके बहुत अधिक विस्तार से संघटनात्मक गुणों का नाश हो जाता है और वे मनोरंजक होने के बदले अरुचिकर हो जाते हैं। वाक्यों की लंबाई या विस्तार की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। यह तो लेखक के अभ्यास, कौशल और सौष्ठव-बुद्धि पर निर्भर है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि लेख या भाषण के विषय के आधार पर इस सीमा को निर्धारित करना उचित होगा। जो विषय जटिल अथवा दुर्बोध हों, उनके लिए छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग ही सर्वथा वांछनीय है। सरल और सुबोध विषयों के लिए यदि वाक्य अपेक्षाकृत कुछ बड़े भी हों, तो उनसे उतनी हानि नहीं होती। कई लेखकों में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि वे जान बूझकर अपने वाक्यों को विस्तृत और जटिल बनाते हैं और उन्हें अनावश्यक वाक्यांशों से लाद चलते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि पढ़नेवाले ऊब जाते हैं और प्राय: लेखक स्वयं इस बात को भूल जाता है कि किस मुख्य भाव को लेकर मैंने अपना वाक्य आरंभ किया था। ऐसे वाक्य के समाप्त होते ही वह मुख्य

भाव को भूलकर और किसी दूसरे गौण भाव को लेकर आगे दौड़ चलता है और अपने वाक्यों में परस्पर संबंध स्थापित करने की ओर कुछ भी ध्यान नहीं देता। इस भारी दोष से बचने ही में लाभ है।

जब किसी वाक्य के वाक्यांश एक से रूप और आकार के होते हैं, तब उन्हें समीकृत वाक्य कहते हैं। इन समीकृत वाक्यों की समरूपता या तो व्याकरण के अनुसार उनकी बनावट से होती है अथवा शब्दों के उच्चारण या अवधारण पर निर्भर रहती है। इन वाक्यांशों का अर्थ भिन्न होता है और शब्द भी प्रायः भिन्न ही होते हैं। इसे स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण देते हैं—

"चाहे हमारी निंदा हो चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो चाहे हम अभी बरसों जीएँ, चाहे हमें लक्ष्मी स्वीकार करे चाहे हमारा सारा जीवन दारिद्र्यमय हो जाय, परन्तु जो व्रत हमने धारण किया है उससे हम कभी विचलित न होंगे।"

इस प्रकार के वाक्यों का प्रभाव दो प्रकार से पड़ता है—एक तो जब वाक्यों की शृंखला किसी एक ही प्रणाली पर बनाई जाती है, तब वह हमारी स्मरण-शक्ति को सहायता पहुँचाती है और एक से वाक्यांशों की आवृत्ति मन को प्रभावित करती है, और जब हम यह जान लेते हैं कि भिन्नभिन्न वाक्यांशों में किस बात में समानता है, तब हमें केवल उनकी विभिन्नता का ही ध्यान रखना आवश्यक होता है। प्रबंध-रचना

का यह साधारण नियम है कि यदि दो वस्तुओं में समानता दिखाई जाय, तो रचना में भी उनको समान ही स्थान मिलना चाहिए। समीकृत वाक्यों द्वारा रचना के इस सिद्धांत का पालन बड़ी सुगमता से हो सकता है।

समीकृत वाक्यों का दूसरा प्रभाव एक प्रकार का सुखद विस्मय उत्पन्न करता है। समरूप वाक्यों द्वारा भिन्न भाव को प्रदर्शित करने से मन को आनंद प्राप्त होता है और कुछ कुछ संगीत के लय सुर का सा अनुभव होने लगता है। जब एक वाक्यांश द्वारा भिन्न परंतु साथ ही नवीन भाव का उद्बोधन कराया जाता है। तब हमारे आनंद और विस्मय की मात्रा बढ़ जाती है। जैसे यदि हम यह कहें कि 'यह अशक्य तो है पर असंभव नहीं' अथवा 'यह कठिन तो है पर अशक्य नहीं' तो यहाँ 'अशक्य' और 'असंभव' तथा 'कठिन' और 'अशक्य' के संयोग से वाक्यांश में एक प्रकार की विशेषता आ जाती है जो हमारे आनंद और विस्मय का कारण होती है। इसी प्रकार को यदि हम और परिमार्जित करके केवल दो शब्दों को वाक्यांशों में भिन्न भिन्न स्थान दे दें, जैसे 'तुम्हारा कहना अविश्वसनीय है पर असत्य नहीं और उसका कहना असत्य है पर अविश्वसनीय नहीं' तो वाक्यांश की सुंदरता, आनंददायिता और भी बढ़ जाती है।

वाक्यों में सबसे अधिक ध्यान रखने की वस्तु अवधारण का संस्थान है; अर्थात् इस बात का ध्यान रखना है कि वाक्य में किस

बात पर हम अधिक ज़ोर देना चाहते हैं और उसका प्रयोग कैसे होना चाहिए। साधारण नियम यह है कि जिस बात पर ज़ोर देना हो, वह वाक्य के आदि अथवा अंत में रखी जाय। आदि में रखने से वह पहले ही ध्यान को आकर्षित करती है और अंत में रहने से स्मृति में अधिक काल तक ठहर सकती है। मध्य का स्थान साधारण और अप्रधान बातों के लिए छोड़ देना चाहिए। इस नियम का पालन प्रस्तावना या उपसंहार के रूप में आए हुए वाक्यों में नहीं देना चाहिए। अवधारण को आदि या अंत में स्थान देने से वाक्य में स्पष्टता आ जाती है और वह लालित्य-गुण से संपन्न हो जाता है।

भारतीय शैली के आधार

जैसा कि हम पहले संकेत कर चुके हैं, हमारे यहाँ शब्दों की शक्ति तीन प्रकार की मानी गई है—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। वास्तव में ये शब्दों की शक्तियाँ नहीं हैं, किंतु उनके अर्थों के भेद हैं। इस कारण इनका महत्त्व वाक्यों में ही देख पड़ता है। जब तक शब्द स्वतंत्र रहते हैं, अर्थात् किसी वाक्य या वाक्यांश के अंग नहीं बन जाते, तब तक उनका कोई निश्चित या सर्वसम्मत अर्थ ही लिया जाता है; परन्तु वाक्यों में पिरोए जाने पर उनका अर्थ अवस्थानुकूल वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य हो जाता है। जिन शब्दों का एक ही अर्थ होता है, उनके संबंध में तो केवल लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का ही उपयोग देख पड़ता है, पर जहाँ एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, वहाँ अभिधा शक्ति द्वारा

अभिप्रेत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। शब्द को सुनते ही यदि उसके अर्थ का बोध हो जाय, तो यह उसकी अभिधा शक्ति का कार्य हुआ, पर शब्द के अनेक अर्थ हो सकते हैं; इसलिए जिस शक्ति के कारण कोई शब्द किसी एक ही अर्थ को सूचित करता है, उसे अभिधा शक्ति कहते हैं। इसका निर्णय कि कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ है, संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ-प्रकरण, प्रसंग, चिह्न, सामर्थ्य, औचित्य, देशबल, काल-भेद और स्वर-भेद से किया जाता है। जैसे 'मरु में जीवन दूरि है, कहने से मरुभूमि के कारण यहाँ 'जीवन' का अर्थ केवल पानी ही लिया जाता है, दूसरा नहीं। अतएव यहाँ जीवन का अर्थ 'पानी' उस शब्द की अभिधा शक्ति से लगाया गया। जहाँ शब्द के प्रधान या मुख्य अर्थ को छोड़कर किसी दूसरे अर्थ की इसलिए कल्पना करनी पड़ती है कि किसी वाक्य में उसकी संगति बैठे, वहाँ शब्द की लक्षणा शक्ति से काम लेना पड़ता है। जैसे—

अंग अंग नग जगमगत, दीप-शिखा सी देह।
दिया बढ़ाये हू रहै, बड़ो उजेरो गेह॥

यहाँ बढ़ाने का अर्थ 'वृद्धि करना' या 'अधिक करना' मानने से दोहे का भाव स्पष्ट नहीं होता; और 'दिया बढ़ाने' से मुहाविरे का अर्थ 'दिया बुझाना' करने से दोहे में चमत्कार आ जाता है। एक दूसरा उदाहरण देकर इस भाव को और भी स्पष्ट कर देना उचित होगा।

फली सकल मनकामना, लूट्यो अगणित चैन।
आजु अचै हरि रूप सखि, भये प्रफुल्लित नैन॥

इस दोहे में फली, लूट्यो, अचै और भये प्रफुल्लित—ये शब्द विचारणीय हैं। साधारणत: वृक्ष फलते हैं, भौतिक पदार्थ लूटे जा सकते हैं, पेय पदार्थ का आचमन किया जा सकता है और फूल प्रफुल्लित (विकसित) होते हैं; पर यहाँ मनोकामना का फलना (पूर्ण होना), चैन का लूटना (उपभोग करना), हरि रूप का अचवना (दर्शन करना) और नैन का प्रफुल्लित होना (देखना) कहा गया है। यहाँ ये सब शब्द अपनी लक्षणा शक्ति के कारण भिन्न भिन्न अर्थ देते हैं। इस शब्द-शक्ति के अनेक भेद और उपभेद माने गये हैं। विस्तार-भय से इनका वर्णन हमें छोड़ना पड़ता है।

तीसरी शक्ति व्यंजना है जिससे शब्द या शब्द-समूह के वाच्यार्थ अथवा लक्ष्यार्थ से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है, अर्थात् जिससे साधारण अर्थ को छोड़कर किसी विशेष अर्थ का बोध होता है। जैसे यदि कोई मनुष्य किसी दूसरे से कहे कि, 'तुम्हारे मुँह से शठता झलक रही है' और इसका उत्तर वह यह दे कि 'मुझे आज ही जान पड़ा कि मेरा मुँह दर्पण है' तो इससे यह भाव निकला कि तुमने अपने मुँह का मेरे दर्पण-रूपी मुँह में प्रतिबिंब देखकर शठता की झलक देख ली; इससे वास्तव में तुमने अपनी ही प्रतिच्छाया देखी है अर्थात् तुम्हीं शठ हो, मैं नहीं। इसके भी अनेक भेद और उपभेद माने गये हैं।

हमारे शास्त्रियों ने यह निश्चय किया है कि सर्वोत्तम वाक्य वही है जिसमें व्यंग्यार्थ रहता है; क्योंकि सबसे अधिक चमत्कार इसी के द्वारा आ सकता है। पश्चिमी विद्वानों ने व्यंग्य को एक प्रकार का अलंकार माना है, और हमारे यहाँ तो इसके अनेक भेद तथा उपभेद करके इस अलंकार का बड़ा विस्तार किया गया है। सारांश यही है कि हमारे यहाँ शब्द की शक्तियों का विवरण देकर पहले उनको वाक्यों में विशेषता उत्पन्न करनेवाला माना और फिर अलंकारों में उनकी गणना करके उन्हें रसों का उत्कर्ष बढ़ानेवाले कहा है। हमारे यहाँ काव्यों के अनेक गुण भी माने गये हैं और उन्हें "प्रधान रस का उत्कर्ष बढ़ानेवाले रसधर्म" कहा है। काव्यों में रसों की प्रधानता होने और उन्हीं के आधार पर समस्त साहित्यिक सृष्टि की रचना होने के कारण सब बातों में रसों का संबंध हो जाता है। पर वास्तव में ये गुण शब्दों से और उनके द्वारा वाक्यों से संबंध रखते हैं।

यों तो हमारे शास्त्रियों ने अपनी विस्तार-प्रियता और श्रेणी-विभाग की कुशलता के कारण कई गुण माने हैं, पर मुख्य गुण तीन ही कहे गये हैं; यथा माधुर्य, ओज और प्रसाद। इन तीनों गुणों को उत्पन्न करने के लिए शब्दों की बनावट के भी तीन प्रकार कहे गये हैं, जिन्हें वृत्ति कहते हैं। ये वृत्तियाँ, गुणों के अनुसार ही, मधुरा, परुषा और प्रौढ़ा हैं। इन्हीं गुणों के आधार पर पद या वाक्य-रचना की भी तीन

रीतियाँ—वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली—मानी गई हैं। इन रीतियों के नाम देशभागों के नामों पर हैं। इससे जान पड़ता है कि उन उन देशभागों के कवियों ने एक एक ढंग का विशेष रूप से अनुकरण किया है; अतएव उन्हीं के आधार पर ये नाम भी रख दिये गये हैं। माधुर्य गुण के लिये मधुरा वृत्ति और वैदर्भी रीति, ओज गुण के लिये परुषा वृत्ति और गौड़ी रीति तथा प्रसाद गुण के लिये प्रौढ़ा वृत्ति और पांचाली रीति आवश्यक मानी गई है। शब्दों में किन किन वर्णों के प्रयोग से कौन सी वृत्ति होती है और पदों या वाक्यों में समासों की न्यूनता या अधिकता के विचार से कौन सी रीति होती है, इसका भी विवेचन किया गया है। इन्हीं तीनों बातों का विवेचन हमारे भारतीय सिद्धांतों के अनुसार रचना शैली में किया गया है। पर यहाँ यह बात न भूलनी चाहिए कि हमारा साहित्य-भांडार पद्य में है। गद्य का तो अभी आरंभिक काल ही समझना चाहिए। इसलिये गद्य की शैली के विचार से अभी हमारे यहाँ विवेचन ही नहीं हुआ है। अपना कोई विशेष ढंग न होने के कारण और अँगरेजी का पठन-पाठन अधिक होने से हमारे गद्य पर अँगरेजी भाषा की गद्य-शैली का बहुत अधिक प्रभाव पड़ रहा है; और यह एक प्रकार से अनिवार्य भी है। इसी कारण हमने पहले अँगरेजी सिद्धांतों के अनुकूल शब्दों और वाक्यों के संबंध में विचार किया है और फिर अपने भारतीय सिद्धांतों का उल्लेख किया

है। गुणों के संबंध में एक और बात का निर्देश कर देना आवश्यक है। रसों की प्रधानता के कारण हमारे शास्त्रियों ने यह भी बताया है कि माधुर्य गुण शृंगार करुण और शांत रस को, ओज गुण वीर बीभत्स और रौद्र रस को, और प्रसाद गुण सब रसों को विशेष प्रकार से परिपुष्ट करता है। पर विशेष विशेष प्रसंगों के उपस्थित होने पर इनमें कुछ परिवर्तन भी हो जाता है; जैसे शृंगार रस का पोषक माधुर्य गुण माना गया है, पर यदि नायक धीरोदात्त या निशाचर हो, अथवा अवस्था-विशेष में क्रुद्ध या उत्तेजित हो गया हो, तो उसके कथन या भाषण में ओज गुण होना आवश्यक और आनंददायक होगा। इसी प्रकार रौद्र, वीर आदि रसों की परिपुष्टि के लिये गौड़ी रीति का अनुसरण वांछनीय कहा गया है; पर अभिनय में बड़े बड़े समासों की वाक्य-रचना से दर्शकों में अरुचि उत्पन्न होने की बहुत संभावना है। जिस बात के समझने में उन्हें कठिनता होगी, उससे चमत्कृत होकर अलौकिक आनंद का प्राप्त करना उनके लिये कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव हो जायगा। ऐसे अवसरों पर नियत सिद्धांत के प्रतिकूल रचना करना कोई दोष नहीं माना जाता; बल्कि लेखक या कवि की कुशलता तथा विचक्षणता का ही द्योतक होता है।

हम शब्दों और वाक्यों के विषय में संक्षेप में लिख चुके। अब पदों के संबंध में कुछ विवेचन करना आवश्यक है।

परंतु जिस प्रकार वाक्यों के विचार के अनंतर गुण, रीति आदि पर हमने विचार किया है, उसी प्रकार अलंकारों के संबंध में भी विवेचन करना आवश्यक है। जिस प्रकार आभूषण शरीर की

अलंकारों का स्थान

शोभा बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार भी भाषा के सौंदर्य की वृद्धि करते, उसके उत्कर्ष को बढ़ाते और रस, भाव आदि को उत्तेजित करते हैं। इन्हें शब्द और अर्थ का अस्थिर धर्म कहा है; क्योंकि जैसे भूषणों के बिना भी शरीर की नैसर्गिक शोभा बनी रहती है, उसी प्रकार अलंकार के न रहने पर भी शब्द और अर्थ की सहज सुंदरता, मधुरता आदि बनी रहती है। हम पहले लिख चुके हैं कि वाक्यों की अंतरात्मा और बाह्यालंकारों में बड़ा भेद है। दोनों को एक मानना अथवा एक को दूसरे का स्थानापन्न करना काव्य के मर्म को न जानकर उसे नष्ट करना है। काव्यों में भाव, विचार और कल्पना उसकी अंतरात्मा के मुख्य स्वरूप कहे गये हैं और वास्तव में काव्य की महत्ता इन्हीं के कारण प्रतिपादित तथा व्यंजित होकर स्थिरता धारण करती है। अलंकार इस महत्ता को बढ़ा सकते हैं, उसे अधिक सुंदर और मनोहर बना सकते हैं; परन्तु भाव, विचार तथा कल्पना का स्थान ग्रहण नहीं कर सकते और न उनके आधिपत्य का विनाश करके उनके स्थान के अधिकारी हो सकते हैं। हम भावों, विचारों तथा कल्पनाओं को काव्य-राज्य के अधिकारी कह सकते हैं और

अलंकारों को उनके पारिपार्श्वक का स्थान दे सकते हैं। दुर्भाग्यवश हमारी हिंदी कविता में इस बात का ध्यान न रखकर अलंकारों को ही सब कुछ मान लिया गया है; और लोगों ने उन्हीं के पठन-पाठन तथा विवेचन को कविता का सर्वस्व समझ रखा है। हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि अलंकार अत्यंत हेय तथा तुच्छ और इसलिए सर्वथा त्याज्य हैं। हम केवल यह बताना चाहते हैं कि उनका स्थान गौण है और उन्हें अपने अधिकार की सीमा के अंदर ही रखकर अपना कौशल दिखाने का अवसर देना चाहिए; दूसरों के विशेष महत्त्व के अधिकार का अपहरण करने में उन्हें किसी प्रकार की सहायता नहीं देनी चाहिए।

हम कह चुके हैं कि अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म हैं। इसी लिए अलंकारों के दो भेद किए गए हैं—एक शब्दालंकार और दूसरा अर्थालंकार। यदि कहीं कहीं एक ही साथ दोनों प्रकार के अलंकार आ जाते हैं, तो उनको उभयालंकार की संज्ञा दी जाती है। शब्दालंकार पाँच प्रकार के माने जाते हैं, अर्थात्—वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष और चित्र। चित्रालंकार में शब्दों के निबंधन से भिन्न भिन्न प्रकार के चित्र बनाए जाते हैं। केवल शब्दों को किसी वांछित क्रम से बैठाना ही इस अलंकार का मुख्य कर्म है। इसमें एक प्रकार का मानसिक कौशल दिखाना पड़ता है। प्रायः ऐसा करने में शब्दों का बहुत कुछ तोड़ने मरोड़ने की भी

आवश्यकता पड़ती है; अतएव इसमें स्वाभाविकता का बहुत कुछ नाश हो जाता है। श्लेष और यमक में बहुत थोड़ा भेद है। जहाँ एक शब्द अनेक अर्थ दे, वहाँ श्लेष और जहाँ एक शब्द अनेक बार आवे और साथ ही भिन्न भिन्न अर्थ भी दे, वहाँ यमक अलंकार होता है। अनुप्रास में स्वरों के भिन्न रहते हुए भी सदृश वर्णों का कई बार प्रयोग होता है। कहीं व्यंजन आपस में बार बार मिल जाते हैं, कहीं व्यंजनों का एक प्रकार से एक बार साम्य अथवा अनेक प्रकार से कई बार साम्य होता है। पद के अंत में आनेवाले सस्वर व्यंजनों का साम्य भी अनुप्रास के ही अंतर्गत माना जाता है। जहाँ एक अभिप्राय से कहे हुए वाक्य को किसी दूसरे अर्थ में लगा दिया जाता है, वहाँ वक्रोक्ति अलंकार होता है। इन सबके बड़े ही सूक्ष्म और अनेक उपभेद किए गए हैं, पर इनका तत्त्व यही है कि वर्णों की मैत्री, संयोग या आवृत्ति के कारण शब्दों में जो चमत्कार आ जाता है, उसे ही अलंकार माना गया है। अर्थालंकारों की संख्या का तो ठिकाना ही नहीं है। ये अलंकार कल्पना के द्वारा बुद्धि को प्रभावित करते हैं, अतएव इनके सूक्ष्म विचार में बुद्धि के तत्त्वों का विचार आवश्यक हो जाता है। हमारी प्रज्ञात्मक शक्तियाँ तीन भिन्न भिन्न रूपों से हमें प्रभावित करती हैं, अर्थात् साम्य, विरोध और सान्निध्य से। जब समान पदार्थ हमारे ध्यान को आकर्षित करते हैं, तब उनकी समानता का भाव हमारे

मन पर अंकित हो जाता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थों में विभेद देखते हैं, तब उनका पारस्परिक विरोध या अपेक्षता हमारे मन पर जम जाती है। जब हम एक पदार्थ को दूसरे के अनंतर और दूसरे को तीसरे के अनंतर देखते हैं अथवा दो का अभ्युदय एक साथ देखते हैं, तब हमारी मानसिक शक्ति बिना किसी प्रकार के व्यतिक्रम के हमारे मस्तिष्क पर अपनी छाप जमाती जाती है और काम पड़ने पर स्मरण शक्ति की सहायता से हम उन्हें पुनः यथारूप उपस्थित करने में समर्थ होते हैं। अथवा जब दो पदार्थ एक दूसरे के अनंतर हमारे ध्यान में अवस्थित हैं या जब उनमें से एक ही पदार्थ कभी समता और कभी विरोध का भाव व्यक्त करता है, तब हम अपने मन में उनका संबंध स्थापित करते हैं और एक का स्मरण होते ही दूसरा आप से आप हमारे ध्यान में आ जाता है। इसे ही सान्निध्य या तटस्थता कहते हैं।

हमारे यहाँ अलंकारों की संख्या का ठिकाना नहीं है। उन्हें श्रेणीबद्ध करने का भी कोई उद्योग नहीं किया गया है। इससे बिना आधार के चलने के कारण उनकी संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। यहाँ इस बात का ध्यान दिला देना आवश्यक है कि अलंकार यथार्थ में वर्णन करने की एक शैली हैं, वर्णन का विषय नहीं हैं। अतएव वर्णित विषयों के आधार पर अलंकारों की रचना करके उनकी संख्या बढ़ाना उचित नहीं है। स्वभावोक्ति और उदात्त अलकारों का

संबंध वर्णित विषय से होने के कारण इनकी गणना अलंकारों में नहीं होनी चाहिए। हमारे यहाँ कुछ लोगों ने अलंकारों की संख्या घटाकर ६१ भी मानी है; पर इनमें भी एक अलंकार के अनेक भेद तथा उपभेद आ मिले हैं। साम्य, विरोध और सान्निध्य या तटस्थता के विचार से हम इन अलंकारों की तीन श्रेणियाँ बना सकते हैं और उनमें के उपभेदों को घटाकर अलंकारों की संख्या नियत कर सकते हैं।

अब हमको केवल पद-विन्यास के संबंध में कुछ विचार करना है। पदों से हमारा तात्पर्य्य वाक्यों के समूहों से है।

पद-विन्यास

किसी विषय पर कोई ग्रंथ लिखने का विचार करते ही पहले उसके मुख्य मुख्य विभाग कर लिये जाते हैं, जो आगे चलकर परिच्छेदों या अध्यायों के रूप में प्रकट होते हैं। एक एक अध्याय में मुख्य विषय के प्रधान प्रधान अंशों का प्रतिपादन किया जाता है। इस संबंध में ध्यान रखने की बात इतनी ही है कि परिच्छेदों का निश्चय इस प्रकार से किया जाय कि मुख्य विषय की प्रधान प्रधान बातें एक एक परिच्छेद में आ जायँ; उनकी आवृत्ति करने की आवश्यकता न पड़े और न वे एक दूसरे को अतिव्याप्त करें। ऐसा कर लेने से सब परिच्छेद एक दूसरे से संबद्ध जान पड़ेंगे और प्रतिपादित विषय को हृदयंगम करने में सुगमता होगी। परिच्छेदों में प्रधान विषयों को अनेक उपभागों में बाँट कर उन्हें सुव्यवस्थित करना पड़ता है जिसमें

पदों की एक पूर्ण श्रृंखला सी बन जाय। इस श्रृंखला की एक कड़ी के टूट जाने से सारी श्रृंखला अव्यवस्थित और असंबद्ध हो सकती है। पदों में इस बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है कि उनमें किसी एक बात का प्रतिपादन दिया जाय और उस पद के समस्त वाक्य एक दूसरे से इस भाँति मिले रहें कि यदि बीच में से कोई वाक्य निकाल दिया जाय तो वाक्यों की स्पष्टता नष्ट होकर उनकी शिथिलता स्पष्ट दिखाई पड़ने लगे। इस मुख्य सिद्धांत को सामने रख कर पदों की रचना आरंभ करनी चाहिए। इस संबंध में दो बातें विशेष गौरव की हैं—एक तो वाक्यों का एक दूसरे से संबंध तथा संक्रमण; और दूसरे वाक्यों के भावों में क्रमशः विकास या परिवर्त्तन। वाक्यों के संबंध और संक्रमण में उच्छृंखलता को बचाकर उन्हें इस प्रकार से संघटित करना चाहिए कि ऐसा जान पड़े कि बिना किसी अवरोध या परिश्रम के हम एक वाक्य से दूसरे वाक्य पर स्वभावतः सरकते चले जा रहे हैं और अंत में परिणाम पर पहुँच कर ही साँस लेते हैं। इन दोनों बातों में सफलता प्राप्त करने के लिये संयोजक और वियोजक शब्दों के उपयुक्त प्रयोगों को बड़े ध्यान और कौशल से काव्य या लेख में लाना चाहिए। जहाँ ऐसे शब्दों की आवश्यकता न जान पड़े, वहाँ वाक्यों के भावों से ही उनका काम लेना चाहिए।

शब्दों, वाक्यों और पदों का विवेचन समाप्त करके हम शैली के गुणों या विशेषताओं के संबंध में कुछ विचार करना

चाहते हैं। हम वाक्यों के संबंध में विवेचन करते हुए तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसाद—का उल्लेख कर चुके हैं; तथा शब्दों, वाक्यों और पदों के संबंध में भी उनकी मुख्य मुख्य विशेषताएँ बता चुके हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने शैली के गुणों को दो भागों में विभक्त किया है—एक प्रज्ञात्मक और दूसरा रागात्मक। प्रज्ञात्मक गुणों में उन्होंने प्रसाद और स्पष्टता को और रागात्मक में शक्ति, करुणा और हास्य को गिनाया है। इनके अतिरिक्त लालित्य के विचार से माधुर्य, सस्वरता और कलात्मक विवेचन को भी शैली की विशेषताओं में स्थान दिया है। शैली के गुणों का यह विभाजन वैज्ञानिक रीति पर किया हुआ नहीं जान पड़ता। हमारे यहाँ के माधुर्य, ओज और प्रसाद ये तीनों गुण अधिक संगत, व्यापक और सुव्यवस्थित जान पड़ते हैं। हमारे यहाँ आचार्यों ने इन गुणों और शब्दार्थालंकारों को रसों का परिपोषक तथा उत्कर्षसाधक मानकर इस विभाग को सर्वथा संगत, व्यवस्थित और वैज्ञानिक बना दिया है। अतएव हमारे यहाँ काव्य की अंतरात्मा के अंतर्गत भावों को मुख्य स्थान देकर रसों को जो उसका मूल आधार बना दिया है, उससे इस विषय की विवेचना बड़ी ही सुव्यवस्थित और सुंदर हो गई है। इन गुणों के विषय में हम पहले ही विशेष रूप से लिख चुके हैं; अतएव यहाँ उसके उद्धरण की आवश्यकता नहीं है।

शैली के गुण

शैली के संबंध में हमें अब केवल एक बात की ओर ध्यान दिलाने की आवश्यकता रह गई है। गद्य और पद्य में मुख्य भेद यह है कि पद्य में वृत्त का होना आवश्यक है, गद्य में उसकी कोई आवश्यकता नहीं होती। काव्य-कला और संगीत-कला में पारस्परिक संबंध बड़ा घनिष्ठ है। इस संबंध को सुदृढ़ और स्पष्ट करने के लिये ही कविता में वृत्त की आवश्यकता होती है। सच बात तो यह है कि ईश्वर की सृष्टि, प्रकृति का समस्त साम्राज्य संगीतमय है। हम जिधर आँख उठाकर देखते और कान लगाकर सुनते हैं, उधर ही हमें सौंदर्य और संगीत स्पष्ट देख और सुन पड़ता है। कविता समस्त सृष्टि से हमारा रागात्मक संबंध स्थापित करती और उसे सुदृढ़ बनाए रहती है, अतएव इस बात का प्रतिपादन करने की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई कि संगीत उस कविता को कितना मधुर, कोमल, मनोमोहक और आह्लादकारी बना देता है। इसी दृष्टि से हमारे आचार्यों ने कविता के इस अंग पर विशेष विचार किया है और इसका आवश्यकता से अधिक विस्तार भी किया है। संगीत-कला का आधार सुर और लय है। अतएव काव्य में सुर और लय उत्पन्न करने तथा भिन्न भिन्न सुरों और लयों में परस्पर मित्रता का संबंध स्थापित करने के लिये हमारे यहाँ विशेष रूप से विवेचन किया गया है। हम ऊपर वृत्तियों तथा

वृत्त

शब्दालंकारों का उल्लेख कर चुके हैं। एक प्रकार से ये दोनों बातें भी संगीतात्मक गुण की उत्पादक और उत्कर्ष-साधक हैं। पिंगल-शास्त्र में यह विषय बड़े विस्तार के साथ लिखा गया है। इसका मूल आधार वर्णों की लघुता और गुरुता तथा उनका पारस्परिक संयोग, अथवा उनकी संख्या है। इस दृष्टि से हमारे यहाँ दो प्रकार के वृत्त माने गये हैं—एक मात्रामूलक और दूसरे वर्णमूलक। मात्रामूलक वृत्तों में लघु-गुरु के विचार से मात्राओं की संख्याएँ नियत रहती हैं और इनकी गणना को सुगम करने तथा मात्राओं के तारतम्य को व्यवस्थित करने के लिये गणों की कल्पना की गई है। वर्णमूलक छंदों के प्रत्येक चरण के वर्णों की संख्या नियत रहती है। दोनों प्रकार के छंदों में जिन स्थानों पर वर्णों का उच्चारण करने में जिह्वा को रुकावट या अवरोध होता है, अथवा जहाँ विश्राम की आवश्यकता होती है, उन स्थानों का भी विवेचन करके उन्हें नियत कर दिया है। ऐसे स्थानों को यति, विश्राम या विराम कहते हैं। यहाँ इस संबंध में विस्तारपूर्वक कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं है।

अंत में इस शैली-विवेचन को समाप्त करते हुए हम यह कह देना आवश्यक तथा उचित समझते हैं कि आजकल हमारे यहाँ शैली-विवेचन के संबंध में विशेष कर इसी विषय पर विचार किया जाता है कि अपने भावों और विचारों को प्रकट करने में हम अपने यहाँ के

उपसंहार

ठेठ, संस्कृत या विदेशी शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करते हैं। मानों शब्दों की व्युत्पत्ति ही सबसे महत्त्व की बात है। जब दो जातियों का सम्मिलन होता है, तब उनमें परस्पर भावों, विचारों तथा शब्दों का विनिमय होता ही है। यही नहीं, वल्कि एक जाति की प्रकृति, रहन-सहन, सद्‌गुणों तथा दुर्गुणों तक का दूसरी जाति पर प्रभाव पड़ता है। लाख उद्योग करने पर भी वे इन बातों से बच नहीं सकतीं। जब यह अटल नियम सब अवस्थाओं में लग सकता है, निरंतर लगता आया है और लगता रहेगा, तब इस पर इतना आगा-पीछा करने की क्या आवश्यकता है। इस संबंध में जो कुछ विचार करने तथा ध्यान में रखने की बात है, वह यही है कि जब हम विदेशी भावों के साथ विदेशी शब्दों को ग्रहण करें, तो उन्हें ऐसा बना लें कि उनमें से विदेशीपन निकल जाय और वे हमारे अपने होकर हमारे व्याकरण के नियमों से अनुशासित हों। जब तक उनके पूर्व उच्चारण को जीवित रखकर, हम उनके पूर्व रूप, रंग, आकार प्रकार को स्थायी बनाए रहेंगे, तब तक वे हमारे अपने न होंगे और हमें उनको स्वीकार करने में सदा खटक तथा अड़चन रहेगी। हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें अपने शब्दकुल में पूर्णतया सम्मिलित करके बिलकुल अपना बना लें। हमारी शक्ति, हमारी भाषा की शक्ति इसी में है कि हम उन्हें अपने रंग में रँगकर ऐसा अपना लें कि फिर उनमें विदेशीपन की झलक भी न रह जाय। यह हमारे लिये कोई

नया काम नहीं होगा। बहुत वर्षों से, नहीं अनेक शताब्दियों से हम इस प्रकार की विजय करते आए हैं और अब हमें इसमें हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरी बात जिस पर हम ध्यान दिलाना चाहते हैं, वह यह भ्रमात्मक विश्वास है कि शैली की कठिनता या सरलता शब्दों के प्रयोग पर निर्भर रहती है। भाषा की कठिनता या सरलता केवल शब्दों की तत्समता या तद्भवता पर निर्भर नहीं रहती। विचारों की गूढ़ता, विषय-प्रतिपादन की गंभीरता, मुहाविरों की प्रचुरता, आनुषंगिक प्रयोगों की योजना और वाक्यों की जटिलता किसी भाषा को कठिन तथा इसके विपरीत गुणों की स्थिति ही उसे सरल बनाती है। रचना-शैली में इस बात को सदा ध्यान में रखना आवश्यक है।

---

(४) भाषा और भाषण

संसार के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं। अतएव भाषाएँ भी स्थिर और अपरिवर्तित दशा में नहीं रहतीं। उनमें भी निरंतर परिवर्तन होता रहता है। इसी परिवर्तन को उनका विकास कहते हैं; और उस विकास के इतिहास का विवेचन बड़ा ही मनोरंजक है। किसी भाषा को पशु-सृष्टि के भाव-प्रकाशन से भिन्न मानवी भाव-प्रकाशन के रूप में अवगत करना और उसकी सामग्री तथा बनावट का तथ्य जानना ही इस इतिहास का मुख्य उद्देश्य है।

इस अध्ययन के आरंभ में ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि भाषा से हमारा क्या तात्पर्य है? कुछ लोगों का

भाषा क्या है

कहना है कि भाषा उसे कहते हैं जिसके द्वारा हम अपने विचार दूसरों पर इस प्रकार प्रकट करते हैं जिसमें वे उनकी समझ में आ जायँ। पर हम अपने मनोगत भावों को चेष्टा, इंगित या मुखविकृति के द्वारा, चित्रलिपि या साधारण लिपि के द्वारा, अथवा व्यक्त नाद के द्वारा भी प्रकट कर सकते हैं। चेष्टा, इंगित अथवा मुखविकृति की सहायता से गूँगे मनुष्य या ऐसे लोग भी जो

एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते, एक दूसरे पर अपने मनोगत भाव प्रकट करते हैं। चित्रलिपि या साधारण लिपि भाव प्रकट करने में बहुत सहायक है, पर वह व्यक्त नाद के आश्रित है। भाव प्रकट करने का सबसे उपयुक्त और प्रधान साधन व्यक्त नाद है। इंगित में मुख या अन्य अंगों के विकार ही भाव के द्योतक होते हैं; पर भाषा में इन विकारों के परिणाम उनके द्योतक होते हैं। अतएव भाषा से हमारा तात्पर्य भावों और विचारों के उन व्यक्त चिह्नों की समष्टि से है जिनका बोध बाहर से होता है और जो अपनी इच्छा के अनुसार उत्पन्न किए या दोहराए जा सकते हैं।

भाषा के दो अंग

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह स्पष्ट है कि भाषा में दो मुख्य अंग होते हैं—एक तो व्यक्त नाद और दूसरा हमारे विचार या भाव। व्यक्त नाद से तात्पर्य उस उच्चारण या बाह्य रूप से है जिसके द्वारा हम अपने विचार या भाव प्रदर्शित करते हैं। भाव या विचार मानसिक क्रियाएँ हैं जिन्हें हम व्यक्त नाद द्वारा प्रकट करते हैं। मान व भाषण में इन दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है—एक के बिना दूसरा हो ही नहीं सकता। नाद के बिना भाव और भाव के बिना नाद का अस्तित्व विचार में लाना कठिन है। अतएव कहा जाता है कि भाषा के रूपात्मक या उच्चारणात्मक और भावात्मक या अर्थात्मक दो अंग होते हैं। जब हम किसी शब्द जैसे "घोड़ा", "काला"

आदि का प्रयोग करते हैं, तब केवल हमारा नाद-यंत्र ही क्रियमाण नहीं होता, हम कुछ नादों का केवल उच्चारण ही नहीं करते, वरन् उन नादों के उच्चरित होने के पूर्व कुछ और मानसिक क्रियाएँ भी होती हैं। इस नाद को करने के पूर्व हमें विचार-सामग्री को क्रम-बद्ध करने अथवा संकुलित विचार-सामग्री को उसके मुख्य मुख्य भागों में विभक्त करने की क्रिया संपन्न करनी पड़ती है। इसके अनंतर वह मानसिक कार्य नाद-स्वरूप किसी शब्द द्वारा प्रकट किया जाता है। 'घोड़ा' शब्द के नाद द्वारा चाक्षुष्य, स्पृश्य तथा दूसरे इंद्रिय-ज्ञानों की समष्टि होकर एक मुख्य भाव का उत्पादन हुआ है। इसी प्रकार 'काला' शब्द से किसी विशिष्ट रंगवाले पदार्थ के मिश्रित इंद्रिय-ज्ञान के तत्त्वों का विश्लेषण होकर वह ज्ञान अलग हुआ और 'काला' शब्द के नाद से प्रकट किया गया है। इस प्रकार विचार-सामग्री के क्रमबद्ध और निर्दिष्ट होने के साथ नाद का संसर्ग हुआ और दोनों से मिलकर वांछित प्रभाव उत्पन्न किया। अब यह स्पष्ट हो गया कि भाषा के रूपात्मक और भावात्मक दोनों अंगों का कितना घनिष्ठ संबंध है साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि इन दोनों में भावात्मक अंग ही प्रधान तथा भाषा की विशेषता स्थापित करनेवाला है। स्वयं व्यक्त नाद ऐसा करने में अनुपयुक्त और असमर्थ है। इसी लिए भाषाविज्ञान में मनोविज्ञान की प्रधानता होती है। पर इसकी समस्त मानसिक क्रियाओं का ठीक ठीक पता

लगाना और जानना कठिन ही नहीं, एक प्रकार से असंभव भी है। बहुत सी क्रियाएँ ऐसी हो जाती हैं जिनका वक्ता को कोई स्पष्ट अनुभव या ज्ञान ही नहीं होता, परंतु वे अपना प्रभाव निश्चित रूप से डालती और कार्य अवश्य करती हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि भाषा के रूपात्मक या उच्चारणात्मक अंग से हमारा तात्पर्य उस सांकेतिक चिह्न से है जो व्यक्त नाद द्वारा कोई भाव या विचार प्रकट करता है। हम फुफ़्फ़ुस द्वारा साँस लेकर नाद उत्पन्न कर सकते हैं। अतएव फुफ़्फ़ुस की वायु को भिन्न भिन्न प्रकार से नाद-यंत्रों द्वारा दबाकर निकालने से व्यक्त नाद की उत्पत्ति होती है। जब साँस फुफ़्फ़ुस से कंठ-नली में आता है, तब उसमें स्थित स्वर-तंतुओं में प्रकंपन उत्पन्न होता है। यदि हम बोलते समय अपने हाथ को कंठ-नली पर रखें तो इस प्रकंपन का अनुभव कर सकते हैं। इस प्रकंपन का बाहर निकलते हुए साँस में संचार हो जाता है। जब साँस कंठ के ऊपरी भाग में पहुँचता है, तब वह या तो नाक द्वारा और या मुँह द्वारा बाहर निकलता है। मुँह के बंद रहने पर उसके निकलने का स्वाभाविक मार्ग नाक ही है। नाक द्वारा साँस को बाहर निकालने के लिये यह आवश्यक है कि तालु का मुलायम भाग और कंठ की घंटी ठीक सीधी लटकती रहे। जब ये दोनों अंश पीछे हटा दिए जाते हैं, जब साँस मुँह के अवकाश में आ जाता है। यह

रूपात्मक अंग

साँस, जो अब नाद हो गया, अभी तक स्पष्ट व्यक्त नहीं हुआ। जब यह साँस मुँह में से होकर आगे बढ़ता है, तब उसके मार्ग में जिह्वा अनेक स्थानों पर रुकावटें उपस्थित करती है—पहले मुख के अंतिम भाग या मुलायम तालु पर, फिर कड़े तालु पर, और अंत में ऊपरी दाँतों के मसूड़ों पर। जिह्वा की जड़ तथा उसका मध्य और अग्र भाग भी ऐसी ही रुकावटें उत्पन्न करता है। जब हम क, च, त आदि अक्षरों का धीरे धीरे उच्चारण करते हैं, तब जिह्वा द्वारा उपस्थित की हुई रुकावटों का अनुभव कर सकते हैं। जब साँस इन रुकावटों को पार करके बाहर निकल पड़ता है, तब हम व्यंजन वर्णों का उच्चारण करते हैं। स्वरों के उच्चारण में जिह्वा रुकावटें नहीं उपस्थित करती, वह केवल वायु के निकलने के मार्ग को संकुचित या प्रसारित करती है जिसके कारण भिन्न भिन्न स्वरों का उच्चारण होता है। स्वर और व्यंजन दोनों मिलकर भाषा की नाद-सामग्री प्रस्तुत करते हैं। भिन्न भिन्न स्वर और व्यंजन मिलकर शब्द बनाते हैं और शब्दों से वाक्य बनते हैं।

भावात्मक अंग

हम बालकपन में ही बोलना सीखते हैं। यह शक्ति क्रमशः प्राप्त होती है, सहसा नहीं आ जाती। जब बालक अपने बड़े भाई, बहिन या माता पिता को कोई शब्द बार बार कहते सुनता है, तब वह उनका अनुकरण करने की चेष्टा करता है। वह उस नाद को बड़े ध्यान से सुनता है और यह भी

देखता है कि उस नाद के करने में उनके मुख की आकृति कैसी हो जाती है। तब वह अपनी शक्ति भर उनका अनुकरण करने का उद्योग करता है। अतएव किसी शब्द का उच्चारण सीखने में दो भिन्न भिन्न क्रियाओं का उपयोग होता है—एक श्रुति-विषयक और दूसरी स्नायु-विषयक। इन दोनों क्रियाओं का उसके मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है और वे इंद्रिय-ज्ञान के रूप में उसके मस्तिष्क पर अपनी छाप डालती हैं। अतएव हम यह कह सकते हैं कि हमारा भाषण किसी उच्चरित शब्द का श्रुति और स्नायुसंबंधी वह प्रतिबिंब है जो हमारे मस्तिष्क पर पड़ता है; अथवा यों कह सकते हैं कि भाषण का भावात्मक अंग उच्चरित और श्रुत शब्दों या वाक्यों का वह प्रतिबिंब है जो हमारी स्मरण-शक्ति पर पड़ता है और जिसे हम उसमें संरक्षित रखते हैं।

जब बालक कोई शब्द सुनता है, जैसे 'रोटी', तब वह पहले पहल उसका उच्चारण करने में असमर्थ होता है और उस शब्द को 'ओती' 'लोटी' 'लोती' आदि कहता है। पर ऐसा करने में वह यह नहीं समझता कि मैंने उस शब्द का ठीक ठीक उच्चारण नहीं किया। वह अपने भरसक उसका ठीक ठीक उच्चारण करने का उद्योग करता है। ज्यों ज्यों वह बड़ा होता है और उसकी भाषणशक्ति तथा उसके नाद-यंत्रों का विकास होता है, त्यों त्यों वह उस शब्द का ठीक ठीक उच्चारण करने में समर्थ होता जाता है।

एक बात और ध्यान देने की है। बालक केवल अनुकरण ही नहीं करता, वरन् अनुकरण के साथ ही साथ वह नए शब्दों को तथा पुराने शब्दों के नए रूपों को उन शब्दों के अनुरूप भी बनाता जाता है जिन्हें वह सुनता है। हम देखते हैं कि वह 'खाया' 'पाया' आदि शब्द सुनता है और उन्हीं के अनुरूप 'आया' 'जाया' शब्द बना लेता है, यद्यपि 'जाया' का ठीक रूप 'गया' है। एक और आधे को मिलाकर सूचित करनेवाले संस्कृत के सहार्ध शब्द से निकला हुआ 'साढ़े' शब्द होता है। बालक देखता है कि जहाँ 'आधा' जोड़ने की आवश्यकता होती है, वहाँ 'साढ़े' शब्द लगा दिया जाता है; जैसे साढ़े तीन, साढ़े चार, साढ़े पाँच आदि। इन शब्दों के अनुरूप ही वह 'साढ़े एक' और 'साढ़े दो' शब्द भी बना लेता है, यद्यपि व्यावहारिक प्रयोग में इनके लिये 'डेढ़' और 'ढाई' शब्द आते हैं। इस प्रकार किसी भाषण में दो अंग होते हैं—एक तो परंपरागत और दूसरा व्यक्तिगत। यद्यपि साधारणतः ये दोनों अंग एक दूसरे के विरोधी जान पड़ते हैं, परन्तु वास्तव में इनमें से एक के कारण भाषा में परिवर्तन होता रहता है और दूसरा भाषा को संरक्षित रखता है।

भाषा पारस्परिक व्यवहार अर्थात् भाव या विचार के विनिमय का साधन है। अतएव किसी भाषा के बोलनेवाले सदा इस बात का ध्यान रखते हैं कि जहाँ तक संभव हो, भाषा में नवीनता न आने पावे। इसे वे स्वयं बचाते हैं और

दूसरों को भी ऐसा करने से रोकते हैं। इस भाव के रहते हुए भी इंद्रिय-ज्ञानों (दृश्य, श्रुत, नस्य, स्पृश्य) तथा चेष्टा आदि सबका साहचर्य अलग अलग और व्यक्तिगत होता है। पर साथ ही इस साहचर्य की समानता मनुष्यों के किसी समुदाय पर सामाजिक नियमों से बढ़कर प्रभाव रखती है। अतएव एक प्रकार से भाषा किसी समुदाय के प्रत्येक व्यक्ति पर निर्भर रहती है; और दूसरे प्रकार से वह व्यक्ति उस भाषा को बालकपन से ही सीखने के कारण उस पर निर्भर रहता है। सारांश यह कि भाषा और व्यक्ति का परस्पर अन्योन्याश्रय संबंध है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह सिद्धांत निकलता है कि भाषा परंपरागत और सामाजिक बन्धन सी है। पर

भाषा एक अर्जित संपत्ति है

इससे यह न समझना चाहिए कि यह किसी जाति या वंश की ऐसी विशेषता की सूचक है, जो उसने अपने पूर्वजों से बपौती के रूप में प्राप्त की है; क्योंकि एक बालक अपनी मातृ-भाषा के समान कोई दूसरी भाषा भी सुगमता से सीख सकता है। वंश या जाति से भाषा-ज्ञान का कोई विशेष संबंध नहीं है। बंगाल के मुसलमान बँगला बोलते हैं और पंजाब के मुसलमान पंजाबी। भारतवर्ष में रहनेवाले पारसी अपने पूर्वजों की अथवा अपने मूल निवास-स्थल पारस की भाषा नहीं बोलते, वरन् गुजरात प्रदेश में जन्म लेने और वहीं पालित पोषित

होने के कारण गुजराती भाषा ही बोलते हैं। यही दशा हब्शियों की भी है। वे संसार के प्रायः सभी बड़े बड़े देशों में फैले हुए हैं। पर वे कहीं अफ्रीक़ा की भाषा नहीं बोलते, जिस देश में रहते हैं, उसी देश की भाषा बोलते हैं। तात्पर्य यह कि भाषण-शक्ति को छोड़कर भाषा का कोई ऐसा अंग नहीं है जो प्राकृतिक हो अथवा जिसका जन्म, वंश या जाति आदि से संबंध हो।

कुछ लोगों का यह कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र रूप से भाषा उत्पन्न करता है। यह सिद्धांत भी भ्रमात्मक है। ऊपर जो बातें कही गई हैं, उन्हीं से इसका खंडन हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति संसर्ग और अनुकरण से भाषा सीखता है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह उसकी उत्पत्ति करता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतंत्र भाषा उत्पन्न करने की चेष्टा करे तो उसका सारा जीवन उसी चेष्टा में बीत जाय; वह एक पग भी आगे न बढ़ सके और न उन लोगों की चेष्टाओं से कोई लाभ ही उठा सके जो उसके पहले हो गये हैं। फिर यदि यह भी मान लिया जाय कि वह अपनी स्वतंत्र भाषा की उत्पत्ति में समर्थ भी हुआ, तो उसके समक्ष यह समस्या उपस्थित होगी कि मेरी भाषा दूसरे लोग कैसे समझेंगे और कैसे स्वीकृत करेंगे। अतएव भाषा का संबंध न किसी जाति या वंश से है और न प्रत्येक व्यक्ति अपनी भाषा का अलग निर्माण करता

है। भाषा एक ऐसी संपत्ति है जिसे मनुष्य संसर्ग और अनुकरण से अर्जित करता है।

जैसा कि हम अभी कह चुके हैं, भाषा एक अर्जित संपत्ति है जिसे हम पूर्वजों के संलाप से प्राप्त करते हैं। पर अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सबसे आदिम अवस्था में मनुष्य ने इसे कैसे उपार्जित किया था। कुछ लोगों का कहना है कि यह ईश्वर की दया का फल है; उसने हमें यह कृपापूर्वक उपहार स्वरूप दी है; अथवा उसकी अनुकंपा से यह स्वयं आविर्भूत हुई है। प्रारंभ में सब बातों में श्रुति-सिद्धांत ही माना जाता था। और बातें तो दूर रहीं, स्वयं सृष्टि की उत्पत्ति भी इसी सिद्धांत के आधार पर मानी जाती थी। अतएव भाषा की उत्पत्ति के संबंध में भी उसका माना जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि नितांत आरंभ की अवस्था में मनुष्यों ने मिलकर सर्वसम्मति से इसका निर्माण किया था। इनके कहने का तात्पर्य यह है कि लोगों ने मिलकर इस बात का निश्चय किया था कि किस भाव या विचार को प्रदर्शित करने के लिये किस नाद-समूह या शब्द का प्रयोग किया जाय; और तब जो कुछ सर्वसम्मति से स्थिर हुआ, वही माना गया। पर प्रश्न यह होता है कि यह विचार या विवाद किस भाषा में हुआ होगा ? इन दोनों सिद्धांतों को अब कोई नहीं मानता; अतएव इन पर विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

भाषा की उत्पत्ति

इस समय भाषा की उत्पत्ति के संबंध में विकासवाद का आश्रय लिया जाता है। हम यह बात जानते हैं कि आधुनिक समय का सभ्य मनुष्य आरंभ में एक सस्तन जंतु था जो पशुओं की भाँति अव्यक्त नाद करके अपने भाव प्रकट कर सकता था। क्रमशः विकसित होते होते और उन्नति करते करते उस जन्तु ने मानव शरीर, मानव इंद्रियाँ और मानव शक्तियाँ उपार्जित कीं। मनुष्य के विकास या उसकी उन्नति से तात्पर्य उसके प्रत्येक अंग, अवयव या इंद्रिय की उन्नति या विकास से है। जिस प्रकार इन सब अंगों, अवयवों या इंद्रियों का क्रमशः विकास हुआ है, उसी प्रकार मनुष्य के नाद-यंत्र का भी क्रमशः विकास हुआ है। यह कार्य किसी आकस्मिक घटना का फल नहीं है, यह तो स्वाभाविक रीति पर प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही हुआ है। यह सिद्धांत मान लेने पर हमें इस बात की कल्पना में कुछ भी कठिनता नहीं हो सकती कि आरंभ में मनुष्य पशुओं की भाँति केवल नाद कर सकता था। कुत्ते के भूकने, कोयल के कूकने, घोड़े के हिनहिनाने और हाथी के चिग्घाड़ने में जो शब्द होता है, वह व्यक्त नहीं होता अव्यक्त होता है। पशुओं का शब्दोच्चार कभी स्पष्ट नहीं होता, वह सदा अस्पष्ट ही होता है। इस अव्यक्त या अस्पष्ट नाद द्वारा पशु अपने सुख-दुख, हर्ष-पीड़ा आदि के भाव प्रदर्शित करता है। मनुष्यों में यह नाद बुलाने का भी काम देता था। जब अनुभव और अनुमान

ने परस्पर एक दूसरे की सहायता करके मनुष्य जाति का वंश-वृक्ष बना लिया, तब जीव-शास्त्र ने एक अद्भुत और नई बात का पता लगाया। गर्भशास्त्र का अनुशीलन करनेवाले विद्वानों ने उस विकास का मूल तत्त्व या सारांश जान लिया जिसका बहुत दिनों से केवल अनुमान किया जाता था अथवा जिसका क्रमशः पता लगा था। सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से गर्भस्थ जीव के विकास की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का पता लग गया और मालूम हो गया कि कैसे आरंभ से लेकर मानव शरीर की क्रमशः सृष्टि होती है। सहस्रों शताब्दियों से जो काम करने और सुधारने में प्रकृति लगी हुई थी, उसका पूरा पता थोड़े से वर्षों में लग गया। यद्यपि यह संभव नहीं है कि भाषा के क्रमशः विकास का हमें वैसा साक्षात् अनुभव हो सके जैसा मानव शरीर की रचना के संबंध में हुआ है, तथापि इसमें संदेह नहीं है कि हमें उसके बीज का, उसके गर्भस्थ विकास का अनुमान हो गया है। यह बीज आरंभिक अव्यक्त नाद है जो उन्नत पशुओं, तथा मनुष्यों में भी, स्वतंत्र रूप से पाया जाता है और जो अब तक उनके बहुत से भावों तथा कुछ विचारों को प्रदर्शित करने का काम देता है। अतएव यह मानने में हमें कोई दुविधा नहीं रह जाती कि मानव भाषण का आदि असंस्कृत रूप यह अव्यक्त नाद या पुकार ही है। इसी नाद को निरंतर उच्चरित करते रहने तथा स्वर को ऊँचा नीचा करने की परंपरा में हम उस उद्योग का इतिहास

पाते हैं जिससे भिन्न भिन्न भावों और विचारों तथा उनके भेदों को क्रमशः प्रदर्शित करने की चेष्टा की गई थी। कुछ अनिश्चित स्वर-संक्रम, जो अभ्यास से स्थिर होते गए थे, ज्ञान के अभ्युदय के साथ ही साथ नाद-शक्ति को भी बढ़ाते गए। प्रारंभ में इनकी संख्या परिमित रही होगी, पर धीरे धीरे नाद-संक्रम के उतार चढ़ाव के सहारे एक के अनेक प्रभेद हो गए और वे भिन्न भिन्न भावों तथा विचारों के संकेत या चिह्न बन गए। साधारण नादों को हम धातुओं का, तथा मिश्र नादों को संयुक्त शब्दों का आदि रूप कह सकते हैं। इस प्रकार भाषा हमारे हर्ष, पीड़ा, भय, आकांक्षा, रुग्णता, नीरोगता, भूख-प्यास, दिन-रात, सर्दी-गर्मी आदि की अधिकता या कमी भी प्रदर्शित करने लगी। जिस नाद की सहायता से आरंभ में पशु अपने सवर्गियों को भय, हर्ष आदि की सूचना देते थे और उन्हें बुलाते थे, वही क्रमशः विकसित रूप में आज्ञा, विधि, दूरी, वचन, पुरुष, लिंग आदि का भी बोधक हुआ। इसने इंगित, चेष्टा आदि को उत्पन्न करके उनके साहचर्य से ऐसी अवस्था उत्पन्न कर दी जो शीघ्रता से विकसित होने लगी।

संसार में जितने जीव हैं, उन सबके मन में समय समय पर कुछ भाव उत्पन्न हुआ करते हैं और उन भावों को वे किसी

नाद

प्रकार का संकेत अथवा नाद करके प्रकट करते हैं। बंदरों, कुत्तों, बैलों और घोड़ों आदि में तो भाव-प्रकाशन का यह प्रयत्न प्रायः नित्य

ही देखने में आता है, पर वैज्ञानिकों ने बहुत सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करके यह पता लगाया है कि च्यूँटियों और मक्खियों तक में यह बात पाई जाती है। मनुष्य इन पशुओं से कई बातों में कहीं श्रेष्ठ है और उसका शारीरिक संघटन भी इनकी अपेक्षा कहीं अधिक पूर्ण, संकुल और विकसित है। इसी लिये मनुष्य में भाव-प्रकाशन की शक्ति भी बहुत विकसित है। पर उसकी इस शक्ति और साधन को यदि थोड़ी देर के लिये अलग कर दें, तो अनेक बातों में उसका भाव-प्रकाशन पशुओं और विशेषतः मनुष्य से अधिक मिलते जुलते हुए पशुओं के भाव-प्रकाशन से बहुत कुछ समानता रखता है। जब मनुष्य में कोई साधारण तीव्र मनोवेग उठता है, तब उसकी नाड़ी और हृदय-गति भी तीव्र हो जाती है; और यदि वह मनोवेग और अधिक तीव्र हुआ तो उसके हाथ-पैर आदि अंग काँपने लग जाते हैं। यदि तीव्रता की मात्रा और भी अधिक हो जाती है तो अंगों का यह कंपन बंद हो जाता है; स्वयं अंग शिथिल हो जाते हैं; और कभी कभी हृदय की गति अस्थायी अथवा स्थायी रूप से बंद तक हो जाती है। जिस प्रकार मनोवेगों का प्रभाव अंगों पर पड़ता है, उसी प्रकार उसका प्रभाव मुख अथवा आकृति पर भी पड़ता है। मनुष्य जब कोई मीठी, खट्टी या कड़वी चीज खाता है, तब प्रायः उसकी आकृति से ही यह प्रकट हो जाता है कि जो चीज वह खा रहा है, उसका स्वाद कैसा है। इसी प्रकार जब मनुष्य

के मन में आनंद, शोक, क्रोध, दया या विराग आदि का संचार होता है, तब भी उसके मुख पर उसका हार्दिक भाव झलकने लगता है। इस प्रकार अंगों के इंगित और मुख की चेष्टा से हृद्गत भावों का प्रकाशन होता है। तात्पर्य यह कि पहले भावों की उत्पत्ति होती है और तब इंगित या चेष्टा से उनका बाह्य रूप प्रदर्शित होने लगता है। इस इंगित या चेष्टा के साथ ही साथ मुँह से किसी प्रकार का नाद भी निकल पड़ता है। अतएव पहले भाव और तब साथ ही साथ इंगित, चेष्टा तथा नाद का आविर्भाव होता है। कुछ लोगों का मत है कि पहले इंगित या चेष्टा और तब नाद होता है, पर यह विचार भ्रमात्मक है। भाव-प्रकाशन में इंगित या चेष्टा का महत्त्व अवश्य है; पर भाषण का आरंभ नाद से ही होता है, उसमें इंगित या चेष्टा की कोई आवश्यकता नहीं होती। उनमें परस्पर सहचारिता न रहकर सहायकता आ जाती है।

भाषा के विकास में नाद के अनंतर अनुकरण का आरंभ होता है। जब हम यह बात स्वीकृत कर लेते हैं कि भाषण

अनुकरण

या भाषा का एक मात्र उद्देश परस्पर भावों का विनिमय और एक दूसरे की बातों का समझना या समझाना है, तब हमारे यह मानने में कुछ भी अड़चन नहीं रह जाती कि कोई विचार प्रकट करने का सबसे सुगम उपाय यही है कि उसके अनुकूल नाद किया जाय। हम अनुभव करते हैं कि जब कोई वस्तु ऊपर

से गिरती है, जैसे पेड़ से फल फूल पत्ते आदि, तब पृथ्वी पर उसके पहुँचते ही 'पट' सा शब्द होता है। बस इस 'पट' शब्द से हमने आरंभ में 'पत्' धातु बना ली जिसका अर्थ 'गिरना' है। हम देखते हैं कि पेड़ों से प्राय: पत्ते गिरा करते हैं; अतएव उसी 'पट' शब्द से 'पत्र' शब्द बना लिया जिसका अर्थ पत्ता हुआ। हम देखते हैं कि एक साधारण पक्षी बहुत अधिक मिलता है। वह 'का' 'का' या 'काँ' 'काँ' शब्द करता है। हमने उसका बोध करने और कराने के लिये उसके अव्यक्त नाद के आधार पर उसका नाम 'काक' रख दिया। उस 'काक' शब्द का 'काओ' होकर 'कौआ' या 'कौवा' शब्द बन गया। अतएव स्पष्ट है कि यदि हम भाव या विचार-विनिमय की प्रकृति को भाषा के विकास का मुख्य आधार और वाणी को उसका मुख्य कर्म या साधन मान लें, तो हमें उसका इतिहास जानने में कोई कठिनता नहीं हो सकती। जिस वस्तु के द्वारा हम अत्यंत सुगमता से अपने विचार दूसरों पर प्रकट कर सकेंगे उसी का हम प्रयोग करेंगे। स्वाभाविक नाद या पुकार के अवलंब से पहले पहल भाषण-शक्ति प्रस्फुटित होती है। उस नाद के साथ ही अनुकरण की क्रिया भी आ उपस्थित होती है। सच बात तो यह है कि नाद या पुकार में भी अनुकरण की ही मात्रा वर्तमान है। जब अनुकरण की प्रकृति ने भावों या विचारों के विनिमय में सहायता देना आरंभ कर दिया और क्रमश: हमारी ज्ञानशक्ति का

भी विकास होने लगा, तब हम इसका अधिकाधिक उपयोग करने लगे और इस प्रकार क्रमशः भाषा विकसित हो चली। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि भावप्रकाशन के जो भिन्न भिन्न रूप बतलाए गए हैं, उनका किस प्रकार उपयोग होता है। ऊपर हमने कौवे का उदाहरण दिया है। अब यदि हम इंगित द्वारा उस पक्षी का बोध कराना चाहते हों, तो हम उसका उड़ना या गर्दन हिलाना या और कोई मुख्य गुण या स्वभाव लेकर उसे संकेत द्वारा प्रकट करेंगे। यदि चित्र द्वारा इसी भाव को प्रकट करना हो तो दो तीन लकीरों से उसका चित्र सा बना देंगे; और यदि नाद द्वारा उसे प्रकट करना चाहेंगे तो जो अव्यक्त स्वर वह प्रायः करता है, उसे लेकर 'का' 'का' जैसे नाद से उसका बोध करावेंगे। इस प्रकार भाषण के विकास में नाद के अनंतर अनुकरण आता है।

इस प्रकार भाव-प्रकाशन में इंगित या चेष्टा और भाषण में नाद के अनंतर अथवा साथ ही साथ दोनों में अनुकरण की अवस्था उत्पन्न होती है। इस भाव-प्रकाशन से ही चित्रलिपि के आरंभिक रूप का भी आविर्भाव होता है जिससे क्रमशः विकसित होते होते अक्षरों या लिपियों की सृष्टि होती है; और भाषण में शब्दों का निर्माण आरंभ होता है जिनसे क्रमशः भाषा की सृष्टि होती है। भाव-प्रकाशन और भाषण में पहले भाव का आविर्भाव होता है और उसके अनंतर भाषण की अवस्था आती है। अतएव पहले भाव,

तब इंगित या चेष्टा, फिर नाद और अंत में अनुकरण से क्रमशः भाषा का विकास होता है। भाषा को स्थाई करने के लिये इंगित और अनुकरण ने मिलकर चित्रलिपि की उत्पत्ति की और तब क्रमशः अक्षरों या लिपियों का विकास हुआ।

जब नाद और अनुकरण ने मिलकर भाषण को रूप दिया, तब उनके भेदों और उपभेदों ने साहचर्य और सादृश्य की सहायता से एक शब्द-भांडार प्रस्तुत कर दिया। मनुष्य जिस समय जिस अवस्था या स्थिति में रहा अथवा जैसी उसकी आवश्यकताएँ रहीं, उनके अनुकूल उसका शब्द-भांडार भी रहा। आदिम अवस्था में शिकार द्वारा जीवन-निर्वाह करने के समय बहुत थोड़े से भाव प्रकट करने की आवश्यकता रही होगी; और उसी के अनुकूल शब्द-भांडार भी बहुत ही सूक्ष्म और साधारण रहा होगा। फिर पशुओं को चराना और इन्हें एक स्थान से साथ साथ लिये हुए दूसरे स्थान पर जाना तथा वहाँ थोड़े दिन बसना, मनुष्य की दिनचर्या हुई। अब पहले शब्द-भांडार से काम नहीं चलता था; अतएव पूर्वपद्धति के अनुसार नए शब्दों का निर्माण होने लगा। अब यहाँ आकर परस्पर समझौते की आवश्यकता हुई। किसी ने किसी पदार्थ का भाव प्रदर्शित करने के लिये एक शब्द का निर्माण किया। और लोगों ने भी उसे मान लिया; वह साधारण प्रयोग में आ गया और शब्द-भांडार में सम्मिलित हो गया। इस प्रकार क्रमशः शब्द-भांडार की

वृद्धि होती गई और साहचर्य तथा सादृश्य की सहायता से वह पूरित होने लगा। जंगली या असभ्य लोगों की आवश्यकताएँ बहुत ही थोड़ी होती हैं; अतएव उनका शब्द-भांडार भी संकुचित होती है। पर ज्यों ज्यों सभ्यता का विकास होता जाता है, त्यों त्यों भाव-विनिमय तथा आवश्यकताओं की मात्रा बढ़ती जाती है। उनके साथ ही भाषा का भांडार भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार सभ्यता के विकास के साथ ही साथ भाषा का भी विकास होता चलता है।

यह एक निश्चित सिद्धांत है कि उन्नति की मात्रा ज्यों ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों त्यों उसकी गति भी बढ़ती जाती है। पहले पहल जितनी उन्नति दस हजार वर्षों में होती है, उतनी उसके उपरांत एक हजार वर्षों में हो आती है। फिर हजार वर्षों में जितनी उन्नति होती है, उतनी उसके अनन्तर सौ वर्षों में होती है; और जितनी उन्नति सौ वर्षों में होती है, उतनी दस बीस वर्षों में होने लगती है। अतः यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि मनुष्य को अपने भाषण का आरंभ और विकास करने में हजारों लाखों वर्ष लगे होंगे। पर ज्यों ज्यों वह उन्नति करता गया, त्यों त्यों उसकी गति बढ़ती गई और अंत में उसने वर्त्तमान रूप धारण किया।

---

(५) हिंदी भाषा का विकास

यह बात प्राय: सर्वसम्मत है कि प्राचीन भारतीय आर्य युरोप और एशिया की आधुनिक सीमा के आस-पास के मैदानों में रहते थे। वहाँ से वे हिंदू-कुश और अफगानिस्तान के मार्ग से भारत में आए और पंजाब में बस गए। वे एकदम बढ़ते हुए नहीं चले आए थे। वे कई टोलियों में आए थे और मार्ग में ही उन्हें कई पीढ़ियाँ, वरन् कई शताब्दियाँ लग गई थीं। इन आर्यों की प्राचीनतम भाषा, जिसका अब तक पता चला है, ऋग्वेद की ऋचाओं में रक्षित है। क्रमश: इस भाषा ने विकसित होकर वैदिक संस्कृत और तब साहित्यिक संस्कृत का रूप धारण किया। पहले बोलचाल की भाषा प्राचीन प्राकृत थी जिससे पाली का आविर्भाव हुआ। पाली के साहित्यिक आसन पर विराजने के अनंतर मध्य काल की प्राकृत का विकास हुआ और उसके भी उस आसन की अधिकारिणी होने के अनंतर बोलचाल की भाषा अपभ्रंश भाषाओं के रूप में विकसित हुई। अपभ्रंश के अनंतर आधुनिक भाषाओं का जन्म हुआ। इस प्रकार अत्यंत प्राचीन काल से भारतवर्ष

पुरानी कथा

F. 8

में एक ओर साहित्यिक भाषा की धारा बहती रही और दूसरी ओर बोलचाल की भाषा की। ये दोनों धाराएँ साथ ही साथ बहती चली आई हैं और दोनों में यथासमय परिवर्तन होते रहे हैं। वर्तमान काल में जो भाषाएँ प्रचलित हैं उन सबका विकास इस क्रम से हुआ है।

इसी प्रकार हिंदी भाषा का विकास भी क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के अनंतर हुआ है। यद्यपि अपभ्रंश की

हिंदी के विकास की अवस्थाएँ

कविता बहुत पीछे की बनी हुई मिलती है, परंतु हिंदी का विकास चंदबरदाई के समय से स्पष्ट देख पड़ने लगता है। इसका समय बारहवीं शताब्दी का अंतिम अर्ध भाग है, परंतु उस समय भी इसकी भाषा अपभ्रंश से बहुत भिन्न हो गई थी। अपभ्रंश का यह उदाहरण लीजिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जे जंतु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु॥ १॥
पुत्तें जाएँ कवण गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुँहडी चंपिज्जइ अवरेण॥ २॥

दोनों दोहे हेमचंद्र के हैं जिनका जन्म संवत् ११४५ में और मृत्यु सं० १२२६ में हुई थी। अतएव यह माना जा सकता है कि ये दोहे सं० १२०० के लगभग अथवा उसके कुछ पूर्व लिखे गए होंगे। अब हिंदी के आदि-कवि चंद के कुछ छंद लेकर मिलाइए और देखिए, दोनों में कहाँ तक समता है।

उच्चिष्ट छंद चंदह बयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि॥
ताली खुल्लिय ब्रह्म, दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
दिग्घ देह चख सीस, मुष्ष करुना जस जप्पत॥

हेमचंद्र और चंद की कविताओं को मिलाने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हेमचंद्र की कविता कुछ पुरानी है और चंद की उसकी अपेक्षा कुछ नई। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिए हैं जिनमें से ऊपर के दोनों दोहे लिए गए हैं; पर ये सब उदाहरण स्वयं हेमचंद्र के बनाए हुए नहीं हैं। संभव है कि इनमें से कुछ स्वयं उसी के बनाए हुए हों, पर अधिकांश अवतरण मात्र हैं और इसलिये उसके पहले के होंगे। इस अवस्था में यह माना जा सकता है कि हेमचंद्र के समय से पूर्व हिंदी का विकास होने लग गया था और चंद के समय तक उसका कुछ कुछ रूप स्थिर हो गया था; अतएव हिंदी का आदि-काल हम सं० ११०० के लगभग मान सकते हैं। यद्यपि इस समय के पूर्व के कई हिंदी कवियों के नाम बताए जाते हैं, परंतु उनमें से किसी की रचना का कोई उदाहरण कहीं देखने में नहीं आता। इस अवस्था के उन्हें हिंदी के आदि-काल के कवि मानने में संकोच होता है। अस्तु। चंद को हिंदी का आदि-कवि मानने में किसी को संदेह नहीं हो सकता। कुछ लोगों का यह कहना है कि चंद का "पृथ्वीराजरासो" बहुत पीछे का

बना हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि इस रासो में बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश हैं, पर साथ ही उसमें प्राचीनता के चिह्न भी कम नहीं हैं। दसम समय का पूरा अंश प्राचीन जान पड़ता है।

चंद का समकालीन जगनिक कवि हुआ जो बुंदेलखंड के प्रतापी राजा परमाल के दरबार में था। यद्यपि इस समय उसका बनाया कोई ग्रंथ नहीं मिलता, पर यह माना जाता है कि उसके बनाए ग्रंथ के आधार पर ही आरंभ में "आल्हा खंड" की रचना हुई थी। इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति अभी तक नहीं मिली है; पर संयुक्त प्रदेश और बुंदेलखंड में इसका बहुत प्रचार है और यह बराबर गाया जाता है। लिखित प्रति न होने तथा इसका रूप सर्वथा आल्हा गानेवालों की स्मृति पर निर्भर होने के कारण इसमें बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश भी मिल गया है।

हिंदी के जन्म का समय भारतवर्ष में राजनीतिक उलट फेर का था। उसके पहले ही से यहाँ मुसलमानों का आना आरंभ हो गया था और इस्लामधर्म के प्रचार तथा उत्कर्ष-वर्धन में उत्साही और दृढ़-संकल्प मुसलमानों के आक्रमणों के कारण भारतवासियों को अपनी रक्षा की पड़ी थी। ऐसी अवस्था में साहित्य-कला की वृद्धि की किसको चिंता हो सकती थी। ऐसे समय में तो वे ही कवि सम्मानित हो सकते थे जो केवल कलम चलाने में ही निपुण न हों, वरन्

तलवार चलाने में भी सिद्धहस्त तथा सेना के अग्रभाग में रह-कर अपनी वाणी द्वारा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने में भी समर्थ हों। चंद और जगनिक ऐसे ही कवि थे और इसी लिये उनकी स्मृति अब तक बनी है। परंतु उनके अनंतर कोई १०० वर्ष तक हिंदी का सिंहासन सूना देख पड़ता है। अतएव हिंदी का आदि-काल संवत् ११०० के लगभग आरंभ होकर १३०० तक चलता है। इस काल में विशेष कर वीर काव्य रचे गए थे। इस समय की भाषा का रूप राजपूताने की भाषा से मिलता जुलता है, जिसमें बीच बीच में एक ओर पुरानी गुजराती और दूसरी ओर कहीं कहीं पुरानी पंजाबी का मिश्रण देख पड़ता है। आरंभ काल की हिंदी में एक विशेषता यह भी थी कि वह प्रायः प्राकृत-प्रधान भाषा थी, अर्थात् उसमें शब्दों के प्राकृत रूपों का अधिक प्रयोग होता था। राजपूताने में इस प्राकृत-प्रधान भाषा को "डिंगल" नाम दिया गया है। चारणों में इस भाषा का बहुत प्रचार था और अभी तक बहुत कुछ है।

इसके अनंतर हिंदी के विकास का मध्य-काल आरंभ होता है जो ५०० वर्षों तक चलता है। भाषा के विचार से इस काल को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक सं० १३०० से १५०० तक और दूसरा १५०० से १८०० तक। प्रथम भाग में हिंदी की पुरानी बोलियाँ बदलकर क्रमशः ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती

हैं और दूसरे भाग में उनमें प्रौढ़ता आती है; तथा अंत में अवधी और ब्रजभाषा का मिश्रण सा हो जाता है। इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डाँवाँडोल थी; उसमें क्रमशः स्थिरता आई जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँचकर पुनः डाँवाँडोल हो गई।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हिंदी की खड़ी बोली का रूप प्राचीन नहीं है। उनका मत है कि सन् १८०० ई० के लगभग लल्लूजीलाल ने इसे पहले पहल अपने गद्य ग्रंथ प्रेमसागर में यह रूप दिया और तब से खड़ी बोली का प्रचार हुआ। लल्लूजीलाल के पहले का भी गद्य मिलता है; और कविता में तो खड़ी बोली तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक में मिलती है। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग मुसलमानों ने ही नहीं किया है, हिंदू कवियों ने भी किया है। यह बात सच है कि खड़ी बोली का मुख्य स्थान मेरठ के आस पास होने के कारण और भारतवर्ष में मुसलमानी राजनीति का केंद्र दिल्ली होने के कारण पहले पहल मुसलमानों और हिंदुओं की पारस्परिक बातचीत अथवा उनमें भावों और विचारों का विनिमय इसी भाषा के द्वारा आरंभ हुआ और उन्हीं की उत्तेजना से इस भाषा का व्यवहार बढ़ा। इसके अनंतर मुसलमान लोग देश के अन्य भागों में फैलते हुए इस भाषा को अपने साथ लेते गए और उन्हीं ने इसे समस्त भारतवर्ष में फैलाया। पर यह भाषा यहीं की थी और इसी में

मेरठ प्रांत के निवासी अपने भाव प्रकट करते थे। मुसलमानों के इसे अपनाने के कारण यह एक प्रकार से उनकी भाषा मानी जाने लगी और हिंदू कवियों ने अपनी कविता में मुसलमानों की बातचीत प्रायः इसी भाषा में दी है। अतएव मध्य-काल में हिंदी भाषा तीन रूपों में देख पड़ती है—ब्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली। जैसे आरंभ-काल की भाषा प्राकृत-प्रधान थी, वैसे ही इस काल की तथा इसके पीछे की भाषा संस्कृत-प्रधान हो गई। अर्थात् जैसे साहित्य की भाषा की शोभा बढ़ाने के लिये आदि काल में प्राकृत शब्दों का प्रयोग होता था, वैसे मध्य काल में संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा। इससे यह तात्पर्य नहीं कि शब्दों के प्राकृत रूपों का अभाव हो गया। प्राकृत के कुछ शब्द इस काल में भी बराबर प्रयुक्त होते रहे; जैसे भुआल, सायर, गय, बसह, नाह, लोयन आदि।

उत्तर या वर्तमान काल की साहित्य की भाषा में ब्रजभाषा और अवधी का प्रचार घटता गया और खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता गया है। इसका प्रचार इतना बढ़ा है कि अब हिंदी का समस्त गद्य इसी भाषा में लिखा जाता है और पद्य की रचना भी बहुलता से इसी में हो रही है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उसका विशेष संबंध साहित्य की भाषा से है। बोलचाल में तो अब तक अवधी, ब्रजभाषा और खड़ी बोली अनेक स्थानिक भेदों और उपभेदों के साथ

प्रचलित है; पर इस समय साधारण बोलचाल की भाषा खड़ी बोली है। इस खड़ी बोली का इतिहास भी बड़ा ही मनोरंजक है।

यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब उन्हें इस बात की चिंता हुई कि यहाँवालों से किस भाषा में बातचीत करें। दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण उन्होंने मेरठ की भाषा खड़ी बोली को ग्रहण किया। अतएव मुसलमानों के उर्दू (= फौजी बाजारों) में इसका व्यवहार होने लगा; और जहाँ जहाँ मुसलमान फैलते गए, इस भाषा को अपने साथ लेते गए। क्रमशः इसमें अरबी और फारसी के शब्द घुसने लगे। पर आरंभ में यह उनको सुगमता से ग्रहण करती और अपना रूप देती गई। पीछे यह प्रवृत्ति बदल गई और मुसलमानों ने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी-अरबी व्याकरण का पुट चढ़ाना आरंभ कर दिया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए; एक तो हिंदी ही कहलाता रहा, और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी ही

के अनुसार रखकर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप 'हिंदोस्तानी' बनाया। अतएव इस समय इस खड़ी बोली के तीन रूप वर्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी—जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है। (२) उर्दू—जिसका प्रचार विशेष कर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की बोलचाल की भाषा है। और (३) हिंदोस्तानी—जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसे सब लोग बोल-चाल में काम में लाते हैं। इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं। हम इन तीनों रूपों पर अलग अलग विचार करेंगे। पर ऐसा करने के पहले इस बात पर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि इसकी व्युत्पत्ति के विषय में जो बहुत से विचार फैल रहे हैं, वे भ्रमात्मक हैं। कुछ लोगों का यह कहना है कि आरंभ में हिंदी या खड़ी बोली ब्रज-भाषा से उत्पन्न हुई और मुसलमानों के प्रभाव से इसमें सब प्रकार के शब्द सम्मिलित हो गए और इसने एक नया रूप धारण किया। इस कथन में तथ्य बहुत कम है। खड़ी बोली का प्रचार भी उसी समय से है, जब से अवधी या ब्रज-भाषा का है। भेद केवल इतना ही है कि ब्रजभाषा तथा अवधी में साहित्य की रचना बहुत पहले से होती आई है और खड़ी बोली में साहित्य की रचना अभी थोड़े दिनों से होने

लगी है। पूर्वकाल में खड़ी बोली केवल बोलचाल की भाषा थी। मुसलमानों ने इसे अंगीकार किया और आरंभ में उन्हीं ने इसको साहित्यिक भाषा बनाने का गौरव भी पाया। खड़ी बोली का सबसे पहला कवि अमीर खुसरो है जिसका जन्म सं० १३१२ में और मृत्यु संवत् १३८१ में हुई थी। अमीर खुसरो ने मसनवी खिज़्र-नामः में, जिसमें मुख्यतः सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज़्रखाँ और देवल देवी के प्रेम का वर्णन है, हिंदी भाषा के विषय में जो कुछ लिखा है, वह उल्लेख के योग्य है। वे लिखते हैं—

"मैं भूल में था; पर अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई (अरब का एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिंदी से कम मालूम हुईं। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह कमी है कि बिना मेल के काम में आने योग्य नहीं है। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है, पर प्राण में किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे से दरी के मोती की उपमा देना शोभा नहीं देता। सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो; और न रहने पर माँगकर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिंदी

भाषा भी अरबी के समान है; क्योंकि उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं है।"

खुसरो ने हिंदी और अरबी-फारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने तथा हिंदू-मुसलमानों में परस्पर भाव-विनिमय में सहायता पहुँचाने के उद्देश से ख़ालिक़बारी नाम का एक कोष पद्य में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ लिखवा-कर तथा ऊँटों पर लदवाकर सारे देश में बाँटी गई थीं। अतएव अमीर खुसरो खड़ी बोली के आदि-कवि ही नहीं हैं, वरन् उन्होंने हिंदी तथा फारसी-अरबी में परस्पर आदान-प्रदान में भी अपने भरसक सहायता पहुँचाई थी। विक्रम की १४वीं शताब्दी की खड़ी बोली की कविता का नमूना खुसरो की कविता में अधिकता से मिलता है; जैसे—

टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन बरतन सब सरकाया॥
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता।
ए सखि! साजन, ना सखि कुत्ता॥
स्याम बरन की है एक नारी।
माथे ऊपर लागै प्यारी॥
जो मानुस इस अरथ को खोलै।
कुत्ते की वह बोली बोलै॥

हिंदू कवियों ने भी अपनी कविता में इस खड़ी बोली का प्रयोग किया है। प्रायः मुसलमानों की बातचीत वे खड़ी

बोली में लिखते थे। भूषण ने शिवाबावनी में अनेक स्थानों में इस भाषा का प्रयोग किया है। उनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) अब कहाँ पानी मुकुतों में पाती हैं।

(२) खुदा की कसम खाई है।

(३) अफजलखान को जिन्होंने मैदान मारा।

ललित-किशोरी की एक कविता का उदाहरण लीजिए—

जंगल में हम रहते हैं, दिल बस्ती से घबराता है।
मानुस गंध न भाती है, मृग मरकट संग सुहाता है॥
चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
ललित-किशोरी इश्क रैन दिन ये सब खेल खेलाता है॥

अतएव यह सिद्ध है कि खड़ी बोली का प्रचार सोलहवीं शताब्दी में अवश्य था, पर साहित्य में इसका अधिक आदर नहीं था। अट्ठारहवीं शताब्दी में हिंदी के गद्य की रचना आरंभ हुई और इसके लिये खड़ी बोली ग्रहण की गई। पर इससे यह मानना कि उर्दू के आधार पर हिंदी (खड़ी बोली) की रचना हुई, ठीक नहीं है। पंडित चंद्रधर गुलेरी ने लिखा है—"खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी-अरबी तत्समों या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका

कारण यही है, कि हिंदू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रँगे थे, उनकी परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की "पड़ी" भाषा को "खड़ी" बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया, किसी प्रांतीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण की या राष्ट्र-भाषा हो चली, हिंदू अपने अपने प्रांत की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा-पढ़ी और साहित्य की भाषा हिंदी हो; मुसलमानों में बहुतों के घर की खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की विभाषा है। किंतु हिंदुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिंदुओं में जाग्रति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया। हिंदी गद्य की भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरंभ होती है। उर्दू गद्य उससे पुराना है; खड़ी बोली की कविता हिंदी में नई है। अभी तक व्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था, उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी—गद्य और पद्य—खड़े रूप में मुसलमानी है।"

यद्यपि गुलेरीजी का यह निष्कर्ष कि 'खड़ी बोली ने मुसलमानी राजाश्रय पाकर उन्नति की और उसका प्रचार चारों ओर फैला तथा मुसलमानों की कृपा के ही कारण हिंदी के

इस खड़ी बोली रूप का इतना महत्त्व हुआ' सर्वथा सत्य है और इसके लिये हमें उनका उपकार मानना चाहिए। परंतु उनका यह कहना कि 'उर्दू-रचना में फारसी, अरबी तत्समों या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी के तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई' ठीक नहीं है। पहले तो उर्दू का आदि-कवि मुहम्मद कुली माना ज़ाता है। संवत् १६३७ में गोलकुंडे के बादशाह सुलतान इब्राहीम की मृत्यु पर उसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। पर हिंदी का खड़ी बोलीवाला रूप हमें साहित्य में १३०० वि० के आरंभ में अर्थात् उर्दू के आदि-कवि से कोई ३०० वर्ष पहले मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि उर्दू के आधार पर हिंदी का खड़ी बोली रूप प्रस्तुत हुआ। मुहम्मद कुली के कई सौ वर्ष पहले से उर्दू पर ब्रज की काव्यमयी भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। मुसलमानों की उर्दू कविता में भी ब्रजभाषा के रस-परिपुष्ट शब्दों का बराबर और निस्संकोच प्रयोग होता था। पीछे के उर्दू कवियों ने इस काव्य-भाषा के शब्दों से अपना पीछा छुड़ाया और खड़ी बोली को अरब और फारस की वेश-भूषा से सुसज्जित करके स्वतंत्र रूप दे दिया। अतएव यह कहना तो ठीक है कि उर्दू वास्तव में हिंदी की 'विभाषा' है, पर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उर्दू के आधार पर हिंदी खड़ी हुई है। "उर्दू कविता पहले स्वभावतः देश की काव्य-भाषा

का सहारा लेकर उठी, फिर जब टाँगों में बल आया, तब किनारे हो गई।"

इसी प्रकार हिंदी गद्य के विषय में भी भ्रम फैल रहा है। लल्लूजीलाल हिंदी गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। वास्तव में उन्होंने हिंदी गद्य को आधुनिक रूप नहीं दिया। उनके कुछ पहले का, मुं० सदासुख के लिखे भागवत का हिंदी अनुवाद "सुखसागर" वर्त्तमान है। उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत करके हम यह दिखलाना चाहते हैं कि लल्लूजीलाल के पहले ही हिंदी गद्य का आरंभ हो चुका था।

"धन्य कहिये राजा पृथुजी को, नारायण के अवतार हैं, कि जिन्होंने पृथ्वी मंथन करके अन्न उपजाया, ग्राम नगर बसाये, और किसी से सहायता न माँगी, कि किसी और से सहाय चाहेंगे तो उसे दुख होयगा, वह दुख आपको होय, इस हेत अपने पराक्रम से जो कुछ बन आया सो किया, फिर कैसा कुछ किया कि इसका नाम पिरथी राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।"

इसके अनंतर लल्लूजीलाल, सदल मिश्र तथा इंशा उल्लाहखाँ का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेमसागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलायकरि, बुलायकर, बुलाय करिके आदि रूप अधिकता से मिलते हैं।

सदल मिश्र में यह बात नहीं है। इंशा उल्लाहखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी लिये कुछ लोग इसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। सारांश यह कि यद्यपि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों, विशेष कर डाक्टर गिलक्रिस्ट की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लूजीलाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी (खड़ी बोली) का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी के साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

हम पहले यह बात कह चुके हैं कि उर्दू भाषा हिंदी की विभाषा थी। इसका जन्म हिंदी से हुआ और उसका दुग्ध-पान करके यह पालित पोषित हुई। पर जब यह शक्ति-संपन्न हो गई, इसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आ गई और मुसलमानों के लाड़-प्यार से यह अपने मूल रूप को भूलकर अपने पृष्ठपोषकों को ही सब कुछ समझने लग गई, तब इसने क्रमशः स्वतंत्रता प्राप्त करने का उद्योग किया। पर यह स्वतंत्रता नाम मात्र की थी। उसने हिंदी से, जहाँ तक संभव हुआ, अलग होने में ही अपनी स्वतंत्रता समझी। पर वास्तव

में वह अपनी जन्मदातृ को भूलकर तथा अरबी-फारसी के जाल में फँसकर अपने आपको उसी प्रकार धन्य मानने लगी, जिस प्रकार एक अविकसित, अनुन्नत अथवा अधोगत जाति अपने विजेता की नकल करके उसका विकृत रूप धारण करने में ही अपना सौभाग्य समझती और अपने को धन्य मानती है। इस प्रकार उर्दू निरंतर हिंदी से अलग होने का उद्योग करती आ रही है। चार बातों में हिंदी से उर्दू की विभिन्नता हो रही है—

(१) उर्दू में अरबी-फारसी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग हो रहा है; और वह भी तद्भव रूप में नहीं; वरन् तत्सम रूप में।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिकता से पड़ रहा है। उर्दू शब्दों के बहुवचन हिंदी के अनुसार न बनकर फारसी के अनुसार बन रहे हैं; जैसे कागज, कसबा या अमीर का बहुवचन कागजों, कसबों या अमीरों न होकर कागजात, कसबात, उमरा आदि होता है; और ऐसे बहुवचनों का प्रयोग अधिकता से बढ़ रहा है।

(३) संबंध-कारक की विभक्ति के स्थान में 'ए' की इज़ाफत करके शब्दों का समस्त रूप बनाया जाता है; जैसे सितारे-हिंद, दफ़्तरें-फ़ौजदारी, मालिके-मकान। इसी प्रकार करण और अपादान कारक की विभक्ति 'से' के स्थान में 'अज़' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे, अज़ ख़ुद, अज़ तरफ़।

F 9

अधिकरण कारक की विभक्ति के स्थान में भी 'दर' विभक्ति का प्रयोग होता है; जैसे, दर-असल, दर-हक़ीकत। कहीं कहीं दर के स्थान में अरबी प्रत्यय 'फ़िल' का भी प्रयोग होता है; जैसे, फ़िल हाल, फ़िल हक़ीक़त।

(४) हिंदी और उर्दू की सबसे अधिक विभिन्नता वाक्य-विन्यास में देख पड़ती है। हिंदी के वाक्यों में शब्दों का क्रम इस प्रकार होता है कि पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अंत में क्रिया होती है; पर उर्दू की प्रवृत्ति यह देख पड़ती है कि इस क्रम में उलट फेर हो। उर्दू में क्रिया कभी कभी कर्त्ता के पहले भी रख दी जाती है; जैसे "राजा इंदर का आना" न कहकर "आना राजा इंदर का" कहते हैं। इसी प्रकार यह न कहकर कि 'उसने एक नौकर से पूछा' यह कहेंगे—'एक नौकर से उसने पूछा'।

नीचे हम उदाहरण के लिये उर्दू के एक लेख से कुछ अंश उद्धृत करते हैं, जिससे ऊपर लिखी चारों बातें स्पष्ट रूप से समझ में आ जायँगी।

"क़स्ब: निगोहा के जानिबे दखिन एक मंदिर महादेव जी का है, जिसको भौरेसर कहते हैं, और जो किनारे दरियाए सई के वाक़ अ है। और वहाँ पर हर दुशंब: को मेला होता है, और अक्सर लोग हर रोज़ दरशन को बिला नाग़: जाया करते हैं, और जो मक़सदे दिली रखते हैं, वोह पूरा होता है। सुनने में आया है कि एक वक़्त में औरङ्गज़ेब बादशाह भी उनके

मंदिर पर तशरीफ़ लाए थे। और उनकी यह मंशा थी कि इस मंदिर को खुदवाकर मूरत को निकलवा लेवें, और सदहा मज़दूर उस मूरत के निकालने को मुस्तइद हुए, लेकिन मूरत की इंतहा न मअलूम हुई। तब बादशाह ने ग़ुस्से में आकर इज़ाजत दी कि इस मूरत को तोड़ डालो। तब मज़दूरों ने तोड़ना शुरूअ किया, और दो एक ज़र्ब मूरत में लगाई, बल्कि कुछ शिकस्त भी हो गई, जिसका निशान आज तक भी मौजूद है, और क़द्रे ख़ून भी मूरत से नमूद हुआ; लेकिन ऐसी क़ुद्रत मूरत की ज़ाहिर हुई और उसी मूरत के नीचे से हज़ारहा भौंरे निकल पड़े और सब फ़ौजें बादशाह की भौंरों से परेशान हुईं। और यह ख़बर बादशाह को भी मअलूम हुई। तब बादशाह ने हुक्म दिया कि अच्छा, इस मूरत का नाम आज से भौंरेसर हुआ और जिस तरह पर थी, उसी तरह से बंद कर दो। और ख़ुद बादशाह ने मूरत मज़कूर बंद कराने का इंतज़ाम कर दिया।"

हिंदोस्तानी भाषा के विषय में इतना ही कहना है कि इसकी सृष्टि अँगरेजी राजनीति के कारण हुई है। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिलाकर, अर्थात् इन दोनों भाषाओं के शब्दों में से जो शब्द बहुत अधिक प्रचलित हैं, उन्हें लेकर तथा हिंदी व्याकरण के सूत्र में पिरोकर इस भाषा को रूप दिया जा रहा है। यह उद्योग कहाँ तक सफल होगा, इस विषय में भविष्यद्वाणी करना कठिन ही

अधिकरण कारक की विभक्ति के स्थान में भी 'दर' विभक्ति का प्रयोग होता है; जैसे, दर-असल, दर-हकीकत। कहीं कहीं दर के स्थान में अरबी प्रत्यय 'फ़िल' का भी प्रयोग होता है; जैसे, फ़िल हाल, फ़िल हकीकत।

(४) हिंदी और उर्दू की सबसे अधिक विभिन्नता वाक्य-विन्यास में देख पड़ती है। हिंदी के वाक्यों में शब्दों का क्रम इस प्रकार होता है कि पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अंत में क्रिया होती है; पर उर्दू की प्रवृत्ति यह देख पड़ती है कि इस क्रम में उलट फेर हो। उर्दू में क्रिया कभी कभी कर्त्ता के पहले भी रख दी जाती है; जैसे "राजा इंदर का आना" न कहकर "आना राजा इंदर का" कहते हैं। इसी प्रकार यह न कहकर कि 'उसने एक नौकर से पूछा' यह कहेंगे—'एक नौकर से उसने पूछा'।

नीचे हम उदाहरण के लिये उर्दू के एक लेख से कुछ अंश उद्धृत करते हैं, जिससे ऊपर लिखी चारों बातें स्पष्ट रूप से समझ में आ जायँगी।

"क़सब: निगोहा के जानिवे दखिन एक मंदिर महादेव जी का है, जिसको भौरेसर कहते हैं, और जो किनारे दरियाए सई के वाक़अ है। और वहाँ पर हर दुशंब: को मेला होता है, और अक्सर लोग हर रोज़ दरशन को बिला नाग़: जाया करते हैं, और जो मक़सदे दिली रखते हैं, वोह पूरा होता है। सुनने में आया है कि एक वक़्त में औरङ्ग़ज़ेब बादशाह भी उनके

मंदिर पर तशरीफ़ लाए थे। और उनकी यह मंशा थी कि इस मंदिर को खुदवाकर मूरत को निकलवा लेवें, और सदहा मज़दूर उस मूरत के निकालने को मुस्तइद हुए, लेकिन मूरत की इंतहा न मअलूम हुई। तब बादशाह ने गुस्से में आकर इज़ाजत दी कि इस मूरत को तोड़ डालो। तब मज़दूरों ने तोड़ना शुरूअ किया, और दो एक ज़र्ब मूरत में लगाई, बल्कि कुछ शिकस्त भी हो गई, जिसका निशान आज तक भी मौजूद है, और क़द्रे ख़ून भी मूरत से नमूद हुआ; लेकिन ऐसी क़ुद्रत मूरत की ज़ाहिर हुई और उसी मूरत के नीचे से हज़ारहा भौंरे निकल पड़े और सब फ़ौजें बादशाह की भौंरों से परेशान हुईं। और यह ख़बर बादशाह को भी मअलूम हुई। तब बादशाह ने हुक्म दिया कि अच्छा, इस मूरत का नाम आज से भौंरेसर हुआ और जिस तरह पर थी, उसी तरह से बंद कर दो। और ख़ुद बादशाह ने मूरत मज़कूर बंद कराने का इंतज़ाम कर दिया।"

हिंदोस्तानी भाषा के विषय में इतना ही कहना है कि इसकी सृष्टि अँगरेजी राजनीति के कारण हुई है। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिलाकर, अर्थात् इन दोनों भाषाओं के शब्दों में से जो शब्द बहुत अधिक प्रचलित हैं, उन्हें लेकर तथा हिंदी व्याकरण के सूत्र में पिरोकर इस भाषा को रूप दिया जा रहा है। यह उद्योग कहाँ तक सफल होगा, इस विषय में भविष्यद्वाणी करना कठिन ही

नहीं, अनुचित भी है। जिस प्रकार राजनीति के प्रभाव में पड़कर हिंदी के अवधी तथा व्रजभाषा रूप, जिनमें साहित्य की बहुमूल्य रचना हुई है, अब धीरे धीरे पीछे हटते जा रहे हैं और उनके स्थान में खड़ी बोली, जो किसी समय में केवल बोलचाल की भाषा थी और जिसमें कुछ भी साहित्य नहीं था, अब आगे बढ़ती आ रही है तथा उनका स्थान ग्रहण करती जा रही है, वैसे ही कौन कह सकता है कि दो एक शताब्दियों में भारतवर्ष की प्रधान बोलचाल तथा साहित्य की भाषा हिंदोस्तानी न हो जायगी, जिसमें केवल हिंदी उर्दू के शब्दों का ही मिश्रण न होगा, वरन् अँगरेजी भी अपनी छाप बनाए रहेगी। भारतीय भाषाओं के इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब जब बोलचाल की भाषा ने एक ओर साहित्यिक रूप धारण किया, तब तब दूसरी ओर बोलचाल के लिये भाषा ने परिवर्त्तित होकर दूसरा नया रूप धारण किया; और फिर उसके भी साहित्यिक रूप धारण करने पर बोलचाल की भाषा नए रूप में चल पड़ी। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है; और कोई कारण नहीं देख पड़ता कि इसकी पुनरावृत्ति निरंतर न होती जाय।

---

(६) समाज और साहित्य

ईश्वर की सृष्टि विचित्रताओं से भरी हुई है। जितना ही इसे देखते जाइए, इसका अन्वेषण करते जाइए, इसकी छान-बीन करते जाइए, उतनी ही नई नई शृंखलाएँ विचित्रता की मिलती जायँगी।

विकासवाद और समाज

कहाँ एक छोटा सा बीज और कहाँ उससे उत्पन्न एक विशाल वृक्ष, कहाँ एकबिंदु मात्र पदार्थ और कहाँ उससे उत्पन्न मनुष्य। दोनों में कितना अंतर और फिर दोनों का कितना घनिष्ठ संबंध। तनिक सोचिए तो सही, एक छोटे से बीज के गर्भ में क्या क्या भरा हुआ है। उस नाम मात्र के पदार्थ में एक बड़े से बड़े वृक्ष को उत्पन्न करने की शक्ति है जो समय पाकर पत्र, पुष्प, फल से संपन्न हो वैसे ही अगणित बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है जैसे बीज से उसकी स्वयं उत्पत्ति हुई थी। कैसे बिंदु मात्र पदार्थ से मनुष्य का शरीर बनता है, कैसे क्रम क्रम से नवजात बालक के अंग पुष्ट होते जाते हैं, उसमें नई शक्ति आती जाती है, उसके मस्तिष्क का विकास होता जाता है, उसमें भावनाएँ उत्पन्न होती जाती हैं और समय पाकर वह उस शक्ति से संपन्न हो जाता है,

जिससे वह अपनी ही सी सृष्टि की वृद्धि करता जाय। फिर एक ही प्रणाली से उत्पन्न अनेक प्राणियों की भिन्नता कैसी आश्चर्यजनक है, कोई बलवान् है तो कोई विचारवान्, कोई न्यायशील है तो कोई अत्याचारी, कोई दयामय है तो कोई क्रूरातिक्रूर, कोई सदाचारी है तो कोई दुराचारी, कोई संसार की माया में लिप्त है तो कोई परलोकचिंता में रत। पर क्या इन विशेषताओं के बीच कोई सामान्य धर्म भी है या नहीं? विचार करके देखिए। सब बातें विचित्र, आश्चर्य-जनक और कौतूहलवर्द्धक होने पर भी किसी शासक द्वारा निर्धारित नियमावली से बद्ध हैं। सब अपने अपने नियमा-नुसार उत्पन्न होते, बढ़ते, पुष्ट होते और अंत में उस अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं जिसे हम मृत्यु कहते हैं; पर यहीं उनकी समाप्ति नहीं है; यहीं उनका अंत नहीं है। वे सृष्टि के कार्य्य-साधन में निरंतर तत्पर हैं। मरकर भी वे सृष्टि-निर्माण में योग देते हैं। यों ही वे जीते मरते चले जाते हैं। इन्हीं सब बातों की जाँच विकासवाद का विषय है। यह शास्त्र हमको इस बात की छान-बीन में प्रवृत्त करता है और बतलाता है कि कैसे संसार की सब बातों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में अभिव्यक्ति हुई, कैसे क्रम क्रम से उनकी उन्नति हुई और किस प्रकार उनकी संकुलता बढ़ती गई। जैसे संसार की भूतात्मक अथवा जीवात्मक उत्पत्ति के संबंध में विकास-वाद के निश्चित नियम पूर्ण रूप से घटते हैं वैसे ही वे मनुष्य

के सामाजिक जीवन के उन्नति-क्रम आदि को भी अपने अधीन रखते हैं। यदि हम सामाजिक जीवन के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो हमें विदित होता है कि पहले मनुष्य असभ्य वा जंगली अवस्था में थे। वे झुंडों में घूमा करते थे और उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य उदर की पूर्त्ति था, जिसका साधन वे जानवरों के शिकार से करते थे। क्रमशः शिकार में पकड़े हुए जानवरों की संख्या आवश्यकता से अधिक होने के कारण उनको बाँध रखना पड़ा। इसका लाभ उन्हें भूख लगने पर स्पष्ट विदित हो गया और यहीं से मानों उनके पशु-पालन-विधान का बीजारोपण हुआ। धीरे धीरे वे पशु-पालन के लाभों को समझने लगे और उनके चारे आदि के आयोजन में प्रवृत्त हुए। साथ ही पशुओं को साथ लिए लिए घूमने में उन्हें कष्ट दिखलाई पड़ने लगे और वे एक नियत स्थान पर रहकर जीवन-निर्वाह का उपाय करने लगे। अब वृत्ति की ओर उनका ध्यान गया। कृषि-कर्म होने लगे, गाँव बसने लगे, पशुओं और भूभागों पर अधिकार की चर्चा चल पड़ी। लोहारों और बढ़इयों की संस्थाएँ बन गईं। आपस में लेन देन होने लगा। एक वस्तु देकर दूसरी आवश्यक वस्तु प्राप्त करने का उद्योग हुआ और यहीं मानों व्यापार की नींव पड़ी। धीरे धीरे इन गाँवों के अधिपति हुए जिन्हें अपने अधिकार को बढ़ाने, अपनी सम्पत्ति की वृद्धि देने तथा अपने बल को पुष्ट करने की लालसा उत्पन्न हुई। सारांश यह कि

आवश्यकतानुसार उनके रहन-सहन, भाव-विचार सबमें परिवर्तन हो चला। जो सामाजिक जीवन पहले था वह अब न रहा। अब उसका रूप ही बदल गया। अब नये विधान आ उपस्थित हुए। नई आवश्यकताओं ने नई चीजों के बनाने के उपाय निकाले। जब किसी चीज की आवश्यकता आ उपस्थित होती है तब मस्तिष्क को उस कठिनता को हल करने के लिये कष्ट देना पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक जीवन में परिवर्तन के साथ ही साथ मस्तिष्क-शक्ति का विकास होने लगा। सामाजिक जीवन के परिवर्तन का दूसरा नाम असभ्यावस्था से सभ्यावस्था को प्राप्त होना है, अर्थात् ज्यों ज्यों सामाजिक जीवन का विकास, विस्तार और उसकी संकुलता बढ़ती गई त्यों त्यों सभ्यतादेवी का साम्राज्य स्थापित होता गया। जहाँ पहले असभ्यता वा जंगलीपन ही में मनुष्य संतुष्ट रहते थे वहाँ उन्हें सभ्यतापूर्वक रहना पसन्द आने लगा। सभ्यावस्था सामाजिक जीवन में उस स्थिति का नाम है जब मनुष्य को अपने सुख और चैन के साथ साथ दूसरे के स्वत्वों और अधिकारों का भी ज्ञान हो जाता है। आदर्श सभ्यता वह है जिसमें मनुष्य का यह स्थिर सिद्धान्त हो जाय कि "जितना किसी काम के करने का अधिकार मुझे है उतना ही दूसरे को भी है" और उसे इस सिद्धान्त पर दृढ़ रखने के लिये किसी बाहरी अंकुश की आवश्यकता न रह जाय। यह भाव जिस जाति में जितना ही अधिक पाया जाता है उतना हीं

अधिक वह जाति सभ्य समझी जाती है, इस अवस्था की प्राप्ति, बिना मस्तिष्क के विकास के नहीं हो सकती अथवा यह कहना चाहिए कि सभ्यता की उन्नति और मस्तिष्क की उन्नति साथ ही साथ होती है। एक दूसरे का अन्योन्याश्रय संबंध है। एक का दूसरे के बिना आगे बढ़ जाना या पीछे पड़ जाना असंभव है। दोनों साथ साथ चलते हैं। मस्तिष्क के विकास में साहित्य का स्थान बड़े महत्त्व का है।

वैज्ञानिकों का सिद्धांत है कि आदि जीवन-तत्त्व वा प्राणरस (प्रोटोप्लाज़्म) का एक टुकड़ा, जिसे हम आदि-जीव वा जीवाणु (प्रोटोज़ोआ) कह सकते हैं, पहले अपने सब अंगों से सब कार्य करता है। वह शरीर के प्रत्येक भाग से देख, सुन, सूँघ और चल सकता है। पर धीरे धीरे वह ज्यों ज्यों विशेष भागों से विशेष कार्य लेने लगता है त्यों त्यों उनके विषय रूप बाह्य पंचभूतों का प्रभाव उन भागों का रूप परिवर्त्तित करने लगता है। जिस भाग से देखने का कार्य विशेष रूप से लिया जाने लगा उस पर प्रकाश की लहरें निरन्तर पड़कर उसे उनकी उत्तेजना के लिये संवित बनाने लगीं। इस प्रकार धीरे धीरे चक्षुरिंद्रिय का आविर्भाव हुआ। इसी ढंग से अन्य इंद्रियों और अवयवों का प्रादुर्भाव हुआ और प्राकृत अवस्था के अनुकूल मानव शरीर की सृष्टि हुई, जो क्रम क्रम से उन्नति करता हुआ उस अवस्था को प्राप्त हुआ जिसमें आजकल हम उसे पाते हैं। जीव-सृष्टि के आदि में सब

आरंभिक जीव समान ही थे पर सबने एक सी उन्नति न की। प्राकृतिक स्थिति के अनुकूल जिसकी जिस विषय की ओर विशेष प्रवृत्ति रही उस पर उसी की उत्तेजना का अधिक प्रभाव पड़ा। अंत में प्रकृति देवी ने जैसा कार्य देखा वैसा ही फल भी दिया। जिसने जिस अवयव से कार्य लिया उसके उसी अवयव की पुष्टि और वृद्धि हुई। जिसने कुछ काम न लिया वह अवनत दशा में ही रह गया। यही कारण सृष्टि की विभिन्नता और विचित्रता का वैज्ञानिकों ने निर्धारित किया है। ठीक यही अवस्था साहित्य-रूपी उत्तेजना से सामाजिक मस्तिष्क की होती है। जैसे भौतिक शरीर की स्थिति और उन्नति बाह्य पंचभूतों के कार्यरूप प्रकाश, वायु, जलादि की उपयुक्तता पर निर्भर है वैसे ही समाज के मस्तिष्क का बनना बिगड़ना साहित्य की अनुकूलता पर अवलम्बित है अर्थात् मस्तिष्क के विकास और वृद्धि का मुख्य साधन साहित्य है।

सामाजिक मस्तिष्क अपने पोषण के लिए जो भाव-सामग्री निकालकर समाज को सौंपता है उसी के संचित भाण्डार का नाम साहित्य है। अतः किसी जाति के साहित्य को हम उस जाति की सामाजिक शक्ति या सभ्यता का निर्देशक कह सकते हैं। वह उसका प्रतिरूप, प्रतिच्छाया या प्रतिबिंब कहला सकता है। जैसी उसकी सामाजिक अवस्था होगी वैसा ही उसका साहित्य होगा। किसी जाति के

सामाजिक स्थिति और साहित्य

साहित्य को देखकर हम यह स्पष्ट बता सकते हैं कि उसकी सामाजिक अवस्था कैसी है, वह सभ्यता की सीढ़ी के किस डंडे तक चढ़ सकी है। साहित्य का मुख्य उद्देश्य विचारों के विधान तथा घटनाओं की स्मृति को संरक्षित रखना है। पहले पहल अद्भुत बातों के देखने से जो मनोविकार उत्पन्न होते हैं उन्हें वाणी द्वारा प्रदर्शित करने की स्फूर्ति होती है। धीरे धीरे युद्धों के वर्णन, अद्भुत घटनाओं के उल्लेख और कर्मकांड के विधानों तथा नियमों के निर्धारण में वाणी का विशेष स्थायी रूप में उपयोग होने लगता है। इस प्रकार वह सामाजिक जीवन का एक प्रधान अंग हो जाती है। एक विचार को सुन या पढ़कर दूसरे विचार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विचारों की एक शृंखला बँध जाती है जिससे साहित्य के विशेष विशेष अंगों की सृष्टि होती है। मस्तिष्क को क्रियमाण रखने तथा उसके विकास और वृद्धि में सहायता पहुँचाने के लिये साहित्य रूपी भोजन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार का यह भोजन होगा वैसी ही मस्तिष्क की स्थिति होगी। जैसे शरीर की स्थिति और वृद्धि के लिये अनुकूल आहार की अपेक्षा होती है उसी प्रकार मस्तिष्क के विकास के लिये साहित्य का प्रयोजन होता है। मनुष्य के विचारों में प्राकृतिक अवस्था का बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। शीतप्रधान देशों में अपने को जीवित रखने के लिये निरंतर परिश्रम करने की आवश्यकता रहती है। ऐसे देशों में

रहनेवाले मनुष्यों का सारा समय अपनी रक्षा के उपायों के सोचने और उन्हीं का अवलंबन करने में बीत जाता है। अतएव क्रम क्रम से उन्हें सांसारिक बातों से अधिक ममता हो जाती है। और वे अपने जीवन का उद्देश्य सांसारिक वैभव प्राप्त करना ही मानने लगते हैं। जहाँ इसके प्रतिकूल अवस्था है वहाँ आलस्य का प्राबल्य होता है। जब प्रकृति ने खाने, पीने, पहनने, ओढ़ने का सब सामान प्रस्तुत कर दिया तब फिर उसकी चिंता ही कहाँ रह जाती है। भारत भूमि को प्रकृति देवी का प्रिय और प्रकांड क्रीड़ा-क्षेत्र समझना चाहिए। यहाँ सब ऋतुओं का आवागमन होता रहता है। जल की यहाँ प्रचुरता है। भूमि भी इतनी उर्वरा है कि सब कुछ खाद्य पदार्थ यहाँ उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इनकी चिंता यहाँ के निवासी कैसे कर सकते हैं? इस अवस्था में या तो सांसारिक बातों से मन हटकर जीव, जीवात्मा और परमात्मा की ओर लग जाता है अथवा विलास-प्रियता में फँसकर इंद्रियों का शिकार बन बैठता है। यही मुख्य कारण है कि यहाँ का साहित्य धार्मिक विचारों या शृंगाररस के काव्यों से भरा हुआ है। अस्तु, जो कुछ मैंने अब तक निवेदन किया है उससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि मनुष्य की सामाजिक स्थिति के विकास में साहित्य का प्रधान योग रहता है।

यदि संसार के इतिहास की ओर हम ध्यान देते हैं तो हमें यह भली भाँति विदित होता है कि साहित्य ने

मनुष्यों की सामाजिक स्थिति में कैसा परिवर्तन कर दिया है। पाश्चात्य देशों में एक समय धर्म-संबंधी शक्ति पोप के हाथ में आ गई थी। माध्यमिक काल में इस शक्ति का बड़ा दुरुपयोग होने लगा। अतएव जब पुनरुत्थान ने

साहित्य और समाज

वर्त्तमान काल का सूत्रपात किया और युरोपीय मस्तिष्क स्वतंत्रता देवी की आराधना में रत हुआ तब पहला काम जो उसने किया वह धर्म के विरुद्ध विद्रोह खड़ा करना था। इसका परिणाम यह हुआ कि युरोपीय कार्यक्षेत्र से धर्म का प्रभाव हटा और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य की लालसा बढ़ी। यह कौन नहीं जानता कि फ्रांस की राज्यक्रांति का सूत्रपात रूसों और वालटेयर के लेखों ने किया और इटली के पुनरुत्थान का बीज मेजनी के लेखों ने बोया। भारतवर्ष में भी साहित्य का प्रभाव इसकी अवस्था पर कम नहीं पड़ा। यहाँ की प्राकृतिक अवस्था के कारण सांसारिक चिंता ने लोगों को अधिक न ग्रसा। उनका विशेष ध्यान धर्म की ओर रहा। जब जब उसमें अव्यवस्था और अनीति की वृद्धि हुई, नए विचारों, नई संस्थाओं की सृष्टि हुई। बौद्धधर्म और आर्य-समाज का प्रावल्य और प्रचार ऐसी ही स्थिति के बीच हुआ। इसलाम और हिंदू धर्म जब परस्पर पड़ोसी हुए तब दोनों में से कूप-मण्डूकता का भाव निकालने के लिये कबीर नानक आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अतः यह स्पष्ट

है कि मानव जीवन की सामाजिक गति में साहित्य का स्थान बड़े गौरव का है।

अब यह प्रश्न उठता है कि जिस साहित्य के प्रभाव से संसार में इतने उलट फेर हुए हैं, जिसने युरोप के गौरव को बढ़ाया, जो मनुष्य समाज का हित-विधायक मित्र है वह क्या हमें राष्ट्र निर्माण में सहायता नहीं दे सकता ? क्या हमारे देश की उन्नति करने में हमारा पथ-प्रदर्शक नहीं हो सकता ? हो अवश्य सकता है यदि हम लोग जीवन के व्यवहार में उसे अपने साथ साथ लेते चलें, उसे पीछे न छूटने दें। यदि हमारे जीवन का प्रवाह दूसरी ओर को है, तब तो हमारा उसका प्रकृति-संयोग ही नहीं हो सकता।

साहित्य की उपयोगिता

अब तक जो वह हमारा सहायक नहीं हो सका है, इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो इस विस्तृत देश की स्थिति एकांत रही है और दूसरे इसके प्राकृतिक विभव का वारापार नहीं है। इन्हीं कारणों से इसमें संघशक्ति का संचार जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका है और यह अब तक आलसी और सुखलोलुप बना हुआ है। परंतु अब इन अवस्थाओं में परिवर्तन हो चला है। इसके विस्तार की दुर्गमता और स्थिति की एकांतता को आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों ने एक प्रकार से निर्मूल कर दिया है और प्राकृतिक वैभव का लाभालाभ बहुत कुछ तीव्र जीवन-संग्राम

की सामर्थ्य पर निर्भर है। यह जीवन-संग्राम दो भिन्न सभ्यताओं के संघर्षण से और भी तीव्र और दुःखमय प्रतीत होने लगा है। इस अवस्था के अनुकूल ही जब साहित्य उत्पन्न होकर समाज के मस्तिष्क को प्रोत्साहित और प्रतिक्रियमाण करेगा तभी वास्तविक उन्नति के लक्षण देख पड़ेंगे और उसका कल्याणकारी फल देश को आधुनिक काल का गौरव प्रदान करेगा।

अब विचारणीय यह है कि वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए जिससे कथित उद्देश्य की सिद्धि हो सके?

साहित्य की कसौटी

मेरे विचार के अनुसार इस समय हमें विशेषकर ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो मनोवेगों का परिष्कार करनेवाला, संजीवनी शक्ति का संचार करनेवाला, चरित्र को सुंदर साँचे में ढालनेवाला, तथा बुद्धि को तीव्रता प्रदान करनेवाला हो। साथ ही इस बात की भी आवश्यकता है कि यह साहित्य परिमार्जित, सरस और ओजस्विनी भाषा में तैयार किया जाय। इसको सब लोग स्वीकार करेंगे कि ऐसे साहित्य का हमारी हिंदी भाषा में अभी तक बड़ा अभाव है पर शुभ लक्षण चारों ओर देखने में आ रहे हैं, और यह दृढ़ आशा होती है कि थोड़े ही दिनों में उसका उदय दिखाई पड़ेगा जिससे जन-समुदाय की आँखें खुलेंगी और भारतीय जीवन का प्रत्येक विभाग ज्ञान की ज्योति से जगमगा उठेगा।

पर क्या यह प्रश्न नहीं किया जा सकता कि इस बात की क्या आवश्यकता है कि ऐसे साहित्य के उत्पादन का उद्योग हिंदी ही में किया जाय ? क्या अन्य भारतीय देशभाषाओं में इसका सूत्रपात नहीं हो चुका है और क्या उनसे हमारा काम न चलेगा ? मेरा दृढ़ विश्वास है कि समस्त भारतीय भाषाओं में हिंदी ही ऐसी है जो मातृभूमि की सेवा के लिये सर्वथा उपयुक्त है और जिससे सबसे अधिक लाभ की आशा की जा सकती है। गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं का आधुनिक साहित्य हमारी हिंदी के वर्त्तमान साहित्य से कई अंशों में भरा पूरा है, पर उनके प्राचीन साहित्य की तुलना हिंदी के पुराने साहित्य-भांडार से नहीं हो सकती, इस कारण उन्हें परंपरा की प्राचीनता का गौरव प्राप्त नहीं है। जैसे किसी जाति के अभ्युत्थान में उसके प्राचीन गौरवान्वित इतिहास का प्रभाव अतुलनीय है वैसे ही भाषाओं को क्षमता प्रदान करने में उसकी प्राचीन परंपरा का बल भी अत्यंत प्रयोजनीय है। किसी लेखक ने बहुत ठीक कहा है कि इतिहास का मूल्य स्वतंत्रता से भी बढ़कर है। स्वतंत्रता खोकर भी हमें इतिहास की रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि इतिहास के द्वारा हम फिर स्वतंत्रता पा सकते हैं पर स्वतंत्रता के द्वारा खोए हुए इतिहास को हम फिर नहीं प्राप्त कर सकते। जिन जातियों का प्राचीन इतिहास नहीं है, जिन्हें अपनी प्राचीनता और पूर्व गौरव का

हिंदी और राष्ट्रीय साहित्य

अभिमान नहीं है वे या तो शीघ्र ही निर्मूल हो जायँगी अथवा अपनी जातीयता के सारे लक्षण खो बैठेंगी। पर जिनका इतिहास वर्त्तमान है, जिनको अपने पूर्वजों का गौरव है, जो अपनी जननी जन्मभूमि के नाम पर आँसू बहाती हैं वे पद-दलित होकर भी जीवित रह सकती हैं और फिर कभी अनुकूल अवसर पाकर अपना सिर ऊँचा कर सकती हैं। ठीक यही अवस्था भाषाओं के प्राचीन भांडार का है।

दूसरा गुण जो हिंदी में और भाषाओं की अपेक्षा अधिक पाया जाता है वह यह है कि इसका विस्तार किसी प्रांत वा स्थान की सीमा के भीतर बद्ध नहीं है। समस्त भारतभूमि में एक कोने से दूसरे कोने तक इसका थोड़ा बहुत आधिपत्य जमा हुआ है और इसके द्वारा एक प्रांत के निवासी दूसरे प्रांत के रहनेवालों से अपने मनोगत भावों को येन केन प्रकारेण प्रकाशित कर सकते हैं। यदि विचार कर देखा जाय तो राष्ट्रीयता के लिये यह एक आवश्यक गुण है। तीसरा गुण जिसके कारण हिंदी का स्थान और भाषाओं की अपेक्षा उच्च है वह उसका अपनी मातामही से घनिष्ठ संबंध है। इन सब बातों को देखकर यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि हिंदी भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने के योग्य है और उसी के द्वारा हमें राष्ट्र-निर्माण में अमूल्य तथा वांछनीय सहायता मिल सकती है। पर वे क्या उपाय हैं जिनसे हिंदी के इस प्रकार गौरव प्राप्त करने का मार्ग सुगम और सुलभ हो जाय?

मेरी समझ में इन उपायों में सबसे पहला स्थान हमें देवनागरी अक्षरों के वर्द्धमान प्रचार को देना चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पहले की अपेक्षा इस समय नागरी का प्रचार बहुत बढ़ चुका है और दिनों दिन बढ़ता जा रहा है; फिर भी उन स्थानों में विशेष सफलता नहीं देख पड़ती जिनमें वह बहुत अधिक वांछनीय है। जब एक ओर हम इस लिपि के नैसर्गिक गुणों की ओर ध्यान देते हैं जिनकी बड़े बड़े विद्वानों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और जिनके कारण सारा संसार इसके ग्रहण का पक्षपाती हो सकता है और दूसरी ओर अपने ही देश में उसके समुचित प्रचार में बाधाएँ देखते हैं तो न आश्चर्य करते बनता है और न दुःख। इन बाधाओं के कई कारण हैं, जैसे हमारी राजनैतिक स्थिति, अनभिज्ञता और दुराग्रह। इनका निवारण एक दिन में नहीं हो सकता। पर इसमें संदेह नहीं है कि ज्यों ज्यों इसके गुणों का ज्ञान लोगों को होता जायगा, वे अपने हानि लाभ को समझने लगेंगे त्यों त्यों ये विघ्न-बाधाएँ कम होती जायँगी। फिर भी यह समझ लेना अत्यंत आवश्यक है कि ये विघ्न-बाधाएँ साधारण नहीं हैं और इनके दूर करने में अनवरत परिश्रम की आवश्यकता है। इस संबंध में मैं एक बात कहे बिना नहीं रह सकता। जो लोग इसके गुणों को जानते और इसके प्रचार की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं वे भी जब "अंतः शाक्ता बहिः शैवाः" के सिद्धांत

पर चलने लगते हैं तब यही कहना पड़ता है कि हम लोगों में अभी चरित्र का बड़ा अभाव है। इन लोगों में कपट व्यवहार का आधिक्य देखकर कभी कभी निराशा का अंधकार हृदय पर छा जाता है। पर निश्चय जानिए कि अब सार्वजनिक जीवन सुगम नहीं रह गया है। जो लोग सार्वजनिक कामों में अग्रसर होने का विचार रखते हैं उन्हें अपने व्यवहार और बर्ताव में बहुत कुछ परिवर्तन करना होगा और जन साधारण को अपने साथ लेकर चलना पड़ेगा। अब वह समय नहीं रहा कि लोग भेड़ बकरियों की तरह हाँके जा सकें।

साहित्य और शिक्षा

एक और उपाय वांछनीय साहित्य उत्पन्न करने का उपयुक्त प्रणाली पर शिक्षा का विधान है। इस विधान में सबसे आवश्यक प्रश्न शिक्षा का माध्यम है। कुछ महाशयों की सम्मति में शिक्षा का माध्यम देश-भाषाओं को बनाने का अर्थ अँगरेजी के पढ़ने लिखने में बाधा उपस्थित कर क्रमशः उसे कम करते जाना और इस प्रकार जातीयता के उद्धार पर कुठाराघात करना है। समझदार लोगों में कोई ही ऐसा होगा जो इस बात को न स्वीकार करता हो कि हमारे जातीय जीवन या राजनैतिक जीवन के लिये अँगरेजी भाषा का जानना परम आवश्यक है। हमें अपने उद्धार के लिये पूर्व और पश्चिम को मिलाना और विचारों के परस्पर परिवर्तन और विनिमय से सहायता लेना

नितांत प्रयोजनीय है। इसलिये अँगरेजी शिक्षा का कोई विरोधी नहीं हो सकता। पर अँगरेजी शिक्षा से यह तात्पर्य नहीं है कि हम अपने को भूल जायँ और अपनी भाषा का समूल नाश कर अँगरेजी का बाना पहिन लें। अँगरेजी की शिक्षा प्रारंभ हुए कोई सवा सौ वर्ष हुए होंगे। इतने काल में १५ लाख लोग अँगरेजी पढ़ लिख सके हैं। गवरमेंट का कथन है कि गत दस वर्षों में अँगरेजी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या ड्योढ़ी हो गई है। इस हिसाब से भी यदि अँगरेजी शिक्षा की उन्नति होती जाय तो भी समस्त भारतवर्ष में सब लोगों के अँगरेजी जान लेने में सहस्रों वर्षों की आवश्यकता होगी। इसके साथ ही गवरमेंट की रिपोर्टों से यह भी विदित होता है कि इस समय ३ करोड़ के लगभग ऐसे पढ़े लिखे लोग भारतवर्ष में हैं जो अँगरेजी बिलकुल नहीं जानते। गत दस वर्षों में इनकी संख्या में २६ लाख की वृद्धि हुई है। दोनों संख्याओं को मिलाने से यह सिद्धांत निकलता है कि जहाँ अँगरेजी पढ़े लिखे लोग प्रति वर्ष ५० हजार बढ़ते हैं वहाँ देश-भाषाओं के जाननेवालों की संख्या २ लाख ६० हजार बढ़ती है। इससे जहाँ आधुनिक उन्नति के हिसाब से भी अँगरेजी के पूर्ण प्रचार में हजारों वर्षों की आवश्यकता है वहाँ देश-भाषाओं के प्रचार में कम से कम ५ वाँ हिस्सा कम समय लगेगा। देश-हितैषी लोग अब स्वयं सोच लें कि दोनों बातों में से कल्याणकर कौन सी बात निज मातृभूमि के लिये होगी।

दूसरी बात जो इस संबंध में विचार करने की है वह यह है कि किसी भाषा के ज्ञान मात्र को शिक्षा नहीं कह सकते। शिक्षा से तात्पर्य मस्तिष्क के विकास का है जो भिन्न भिन्न विषयों के मनन से होता है। अँगरेजी भाषा के ज्ञान की आवश्यकता को तो हम मानने के लिये पूर्णतया उद्यत हैं पर हमारी समझ में यह नहीं आता कि इस बात की क्या आवश्यकता है कि हम भारत के मस्तिष्क-विकास के लिये भी एक विदेशीय भाषा का आश्रय ग्रहण करें। इस पद्धति के अनुसार चलने का परिणाम तो यही होगा कि अधिकांश बालकों की सारी आयु एक विदेशीय भाषा की जटिलता के हल करने में लग जायगी; न उनके मस्तिष्क का विकास होने पावेगा और न उन्हें किसी विषय का वास्तविक ज्ञान हो सकेगा। क्या संसार में कहीं का भी आप एक दृष्टांत उद्धृत कर सकते हैं जहाँ बालकों की शिक्षा विदेशीय भाषाओं द्वारा होती है? क्या जापान ने अपनी उन्नति विदेशीय भाषा के प्रचार से की? क्या निज मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने के कारण उसके गौरव में, उसके महत्त्व में किसी प्रकार की कमी हुई? यदि ऐसा नहीं हुआ तो भारतवर्ष में इस अनोखे सिद्धांत का अनुकरण करने के लिये क्यों उद्योग किया जाता है? इस प्रांत के काँगड़ी ग्राम में इस बात का ज्वाज्वल्य प्रमाण उपस्थित है कि देश-भाषा द्वारा शिक्षा देने में उसके वास्तविक गुणों के अर्जन में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं होती। अतएव मेरा तो

यह दृढ़ सिद्धांत है कि भारत का इसी में कल्याण है कि जैसे हो वैसे शिक्षा का भरपूर प्रचार किया जाय और यह शिक्षा देश-भाषाओं के द्वारा हो। जो लोग उच्च शिक्षा के अभिलाषी हों उनके लिये अँगरेजी का अभ्यास आवश्यक और सर्वथा उचित है परंतु वह भी अन्य या द्वितीय भाषा के रूप में हो।

भारतवर्ष में आधुनिक शिक्षा की उत्पत्ति का मुख्य हेतु यही हुआ कि यहाँ की गवरमेंट को अपने काम के लिये अँगरेजी पढ़े लिखे लोगों की आवश्यकता पड़ी। उसी अभाव की पूर्त्ति के लिये यहाँ गवरमेंट ने शिक्षा का कार्य्य आरंभ किया। सरकारी नौकरी और शिक्षा का यह अप्राकृतिक संबंध अब तक चला जा रहा है और यही हमारी शिक्षा-संबंधिनी आपत्तियों का मूल कारण है। संसार के और किसी देश में यह अनुचित संबंध देखने में नहीं आता है। कहीं भी युनिवर्सिटी की परीक्षाएँ सरकारी नौकरी का द्वार खोलने की कुंजी नहीं मानी जातीं। जिस समय शिक्षा का उद्देश्य उसके वास्तविक लाभों को फैलाना हो जायगा उसी समय से हमारी शिक्षा-संबंधिनी आपत्तियाँ दूर हो जायँगी। न लोगों के लिये नौकरी ही शिक्षा का एक मात्र उद्देश्य रह जायगा, न राजनैतिक अवस्था के अनुसार शिक्षा में हेर-फेर होगा और न विश्वविद्यालयों को परीक्षार्थियों के अधिक संख्या में अनुत्तीर्ण करने का अभिमान प्राप्त हो सकेगा।

मैं थोड़ी देर के लिये आपका ध्यान हिंदी के गद्य और पद्य की ओर दिलाना चाहता हूँ। यद्यपि भाषा के इन दोनों अंगों की पुष्टि का प्रयत्न हो रहा है पर दोनों की गति समान रूप से व्यवस्थित नहीं दिखाई देती। गद्य का रूप अब एक प्रकार से स्थिर हो चुका है, उसमें जो कुछ व्यतिक्रम या व्याघात दिखाई पड़ जाता है वह अधिकांश अवस्थाओं में मतभेद के कारण नहीं बल्कि अनभिज्ञता के कारण होता है। ये व्याघात या व्यतिक्रम प्रांतिक शब्दों के प्रयोग, व्याकरण के नियमों के उल्लंघन आदि के रूप में ही अधिकतर दिखाई पड़ते हैं। इनके लिये कोई मत-संबंधी विवाद नहीं उठ सकता। इनके निवारण के लिये केवल समालोचकों की तत्परता और सहयोगिता की आवश्यकता है। इस कार्य में केवल व्यक्तिगत कारणों से समालोचकों को दो पक्षों में नहीं बाँटना चाहिए।

साहित्य का आदर्श

गद्य के विषय में इतना कह चुकने पर उसके आदर्श पर थोड़ा विचार कर लेना भी आवश्यक जान पड़ता है। इसमें तो कोई मत-भेद नहीं कि जो बोली हिंदी गद्य के लिये ग्रहण की गई है वह दिल्ली और मेरठ प्रांत की है। अतः शब्दों के रूप, लिंग आदि का बहुत कुछ निश्चय तो वहाँ के शिष्ट प्रयोग द्वारा ही हो सकता है। जैसे पूरब में दही और हाथी को स्त्री-लिंग बोलते हैं पर पश्चिम में विशेष कर उक्त प्रांत में ये दोनों शब्द पुँल्लिंग स्वीकार करते हैं; यह इसलिये नहीं कि वे संस्कृत

के अनुसार पुँल्लिंग वा क्लीव होंगे बल्कि इसलिये कि वे पुँल्लिंग रूप में उक्त प्रांत में व्यवहृत हैं। एक पंडितजी ने अपनी एक पुस्तक में पूरबी और पश्चिमी हिंदी का विलक्षण संयोग किया है। उनका एक शब्द है—सूतते हैं। सूतब क्रिया पूरब की है। उसमें उक्त पंडितजी ने प्रत्यय लगाकर उसे "सूतते हैं" बनाया। उन्होंने यह ध्यान नहीं दिया कि जिस स्थान में आते हैं जाते हैं आदि बोले जाते हैं वहाँ "सोते हैं" बोला जाता है "सूतते हैं" नहीं। उन्होंने "ने" विभक्ति पर भी अपनी बड़ी अरुचि दिखाई है, यह नहीं समझा कि वह किस प्रकार क्रिया के कृदंत-मूलक रूप के कारण संस्कृत की तृतीया से खड़ी बोली में आई है। कुछ लोग, विशेषत: बिहार के लोग, क्रियाओं के रूपों से लिंग-भेद उठाने की चर्चा भी कभी कभी कर बैठते हैं। पर वे यदि थोड़ी देर के लिये हिंदी भाषा की विकास-प्रणाली पर ध्यान देंगे तो उन्हें विदित होगा कि हिंदी क्रियाओं के रूप संस्कृत के संज्ञा कृदंत रूपों के साँचे पर ढले हैं। जैसे 'करता है' रूप संज्ञा शब्द 'कर्त्ता' से बना है। इसी से स्त्रीलिंग में वह संस्कृत "कर्त्री" के अनुसार 'करती है' हो जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, यद्यपि हमारे गद्य की भाषा मेरठ और दिल्ली प्रांत की है पर साहित्य की भाषा हो जाने के कारण उसका विस्तार और प्रांतों में भी हो गया है। अत: वह उन प्रांतों के शब्दों का भी अभाव-पूर्त्ति के निमित्त

अपने में समावेश करेगी। यदि उसके जन्म-स्थान में किसी वस्तु का भाव व्यंजित करने के लिये कोई शब्द नहीं है तो वह दूसरे प्रांत से, जहाँ उसका शिष्ट समाज या साहित्य में प्रवेश है, शब्द ले सकती है। पर यह बात ध्यान रखने की है कि वह केवल अन्य स्थानों के शब्द मात्र अपने में मिला सकती है, प्रत्यय आदि नहीं ग्रहण कर सकती।

अब पद्य की शैली पर भी कुछ ध्यान देना चाहिए। भाषा का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करे और साहित्य का उद्देश्य यह है कि एक का भाव दूसरा ग्रहण करके अपने अंत:करण में भावों की अनेकरूपता का विकास करे। ये भाव साधारण भी होते हैं और जटिल भी। अत: जो लेख साधारण भावों को प्रकट करता हो वह साधारण ही कहलावेगा, चाहे उसमें सारे संस्कृत कोशों को ढूँढ़ ढूँढ़कर शब्द रक्खे गए हों और चार चार अंगुल के समास बिछाए गए हों। पर जो लेख ऐसे जटिल भावों को प्रकट करेंगे जो अपरिचित होने के कारण अंत:करण में जल्दी न धँसेंगे वे उच्च कहलावेंगे, चाहे उनमें बोलचाल के साधारण शब्द ही क्यों न भरे हों। ऐसे ही लेखों से उच्च साहित्य की सृष्टि होगी। जो जनता के बीच नए नए भावों का विकास करने में समर्थ हो, जो उनके जीवन-क्रम को उलटने पलटने की क्षमता रखता हो वही सच्चा साहित्य है। अत: लेखकों को अब इस युग में बाण और दंडी होने की आकांक्षा उतनी

न करनी चाहिए जितनी वाल्मीकि और व्यास होने की, बर्क, कारलाइल और रस्किन होने की।

कविता का प्रवाह आजकल दो मुख्य धाराओं में विभक्त हो गया है। खड़ी बोली की कविता का आरंभ थोड़े ही दिनों से हुआ है। अतः अभी उसमें उतनी शक्ति और सरसता नहीं आई है, पर आशा है कि उचित पथ के अवलंबन द्वारा वह धीरे धीरे आ जायगी। खड़ी बोली में जो अधिकांश कविताएँ और पुस्तकें लिखी जाती हैं वे इस बात का ध्यान रखकर नहीं लिखी जातीं कि कविता की भाषा और गद्य की भाषा में भेद होता है। कविता की शब्दावली कुछ विशेष ढंग की होती है, उसके वाक्यों का रूप रंग कुछ निराला होता है। किसी साधारण गद्य को नाना छंदों में ढाल देने से ही उसे काव्य का रूप नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः कविता की जो सरस और मधुर शब्दावली ब्रजभाषा में चली आ रही है उसका बहुत कुछ अंश खड़ी बोली में भी रखना पड़ेगा। भाव-वैलक्षण्य के संबंध में जो बातें गद्य के प्रसंग में कही जा चुकी हैं वे कविता के विषय में ठीक घटती हैं। बिना भाव की कविता ही क्या! खड़ी बोली की कविता के प्रचार के साथ काव्य-क्षेत्र में जो अनधिकार प्रवेश की प्रवृत्ति अधिक हो रही है वह ठीक नहीं। मैंने कई नव-युवकों को कविता के मैदान में एक विचित्र ढंग से उतरते देखा है। छात्रावस्था में उन्होंने किसी अँगरेजी रीडर का

कोई पद्य उठाया है और कुछ तुकबंदी के साथ उसका अनुवाद करके वे उसे किसी कवि या लेखक के पास संशोधन के लिये ले गए हैं। कविता के अभ्यास का यह ढंग नहीं है। कविता का अभ्यास आरंभ करने के पहले अपनी भाषा के बहुत से नए पुराने काव्यों की शैली का मनन करना; रीति-ग्रंथों का देखना, रस, अलंकार आदि से परिचित होना आवश्यक है। आजकल बहुत सी कविताएँ ऐसी देखने में आती हैं जिन्हें आप न खड़ी बोली की कह सकते हैं न ब्रजभाषा की। उनके लेखक खड़ी बोली और ब्रजभाषा का भेद नहीं समझते। वे एक ही चरण में एक स्थान पर खड़ी बोली की क्रिया रखते हैं, दूसरे स्थान पर ब्रजभाषा की। आशा है कि ये सब दोष शीघ्र दूर हो जायँगे और हमारे काव्य का प्रवाह एक सुव्यवस्थित मार्ग का अनुसरण करेगा।

उपसंहार

मैं आप लोगों से निवेदन कर चुका हूँ कि सामाजिक मस्तिष्क के विकास और वृद्धि के लिये साहित्य की कितनी आवश्यकता है। वह साहित्य किस प्रकार का होना चाहिए, उसके साधन क्या हैं और उन साधनों के मार्ग में कौन कौन सी विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हैं जिनका निराकरण कर हम उपयुक्त साहित्य का भावी मार्ग इस प्रकार विस्तृत और परिष्कृत कर सकते हैं कि वह अपने लक्ष्य पर पहुँचने में समर्थ हो, इन विषयों के संबंध में भी मैं अपने विचार आप लोगों के सम्मुख उपस्थित कर

चुका हूँ। मुझे अब आपसे केवल इतना ही कहना है कि जो कुछ हम करना चाहते हैं वह एक या दो चार व्यक्तियों के करने से पूरा न होगा। उसके लिये हमें अपनी सारी बिखरी हुई शक्तियों को संयुक्त करके उन्हें ऐसी बलवती बनाना पड़ेगा जिसमें फिर उनके मार्ग में कोई वस्तु किसी प्रकार का अवरोध उपस्थित करने में समर्थ न हो। बिखरी हुई शक्ति से कोई बड़ा कार्य सुसंपन्न नहीं हो सकता और संघ-शक्ति का बल ऐसा प्रबल हो जाता है कि उसका सामना करने का साहस किसी को नहीं होता, उसके आगे सारी विघ्न-बाधाएँ आपसे लुप्त हो जाती हैं। इसलिये भाइयो, मित्रो, मातृभाषा के सेवको! संघशक्ति का मूल मंत्र जपो, उसे अपने हृदय-पटल पर भली भाँति खचित करो, उसी को अपनी आराध्य देवी समझकर सदा उसकी सहायता के इच्छुक बने रहो, फिर आपको अपने उद्देश्यों के सिद्ध करने में जरा भी विलंब न लगेगा। जिस प्रकार छोटी छोटी नदियाँ, नाले और अन्य जल-प्रवाह सिमट सिमटकर एक बड़ी नदी में जा मिलते और उसके वेग को ऐसा प्रबल कर देते हैं कि उसके आगे सभी रुकावटें तृणवत् छिन्न भिन्न हो उसकी सहगामिनी होती हैं, उसी प्रकार आप अपनी भिन्न भिन्न शक्तियों को साहित्य रूपी सरिता के सबल और संजीवनी-शक्ति-संपन्न प्रवाह में संमिलित कर उस प्रवाह को घोर निनाद करते हुए राष्ट्रीय समुद्र में ला मिलाइए। फिर देखिए कि किस प्रकार आपकी प्यारी

मातृभूमि संसार के समस्त राष्ट्रों में आदरणीय सिंहासन पर विराजने की अधिकारिणी हो जाती है।

क्या आप लोगों ने कभी शुद्ध हृदय से इस बात पर विचार किया है कि माता, मातृभूमि और मातृभाषा का आप पर कुछ ऋण है भी या नहीं ? एक जननी आपको जन्म देती है, एक की गोद में खेलकूदकर और खा पीकर आप पुष्ट होते हैं और एक आपको अपने भावों को प्रकट करने की शक्ति दे आपके सांसारिक जीवन को सुखमय बनाती है। जिनका आप पर इतना उपकार हो उनके लिये कुछ करना क्या आपका परम कर्त्तव्य नहीं है ? प्यारे भाइयो, उठो, आलस्य को छोड़ो, कमर कसो और अपनी मातृभाषा की सेवा में तत्पर हो जाओ। अपने को मातृ-ऋण से मुक्त करो, संसार में सपूत कहलाओ और मातृ-सेवकों में अपनी छाप छोड़ जाओ। पर ध्यान रहे, यह व्रत साधारण नहीं, इसके व्रती बनकर पार पाना तलवार की धार पर चलने के समान होगा। क्षुद्राशय, दुर्बुद्धि, दुराग्रही, छिद्रान्वेषी, ईर्ष्यालु लोग आपकी निंदा करेंगे, आपका उपहास करेंगे, आपको बनावेंगे, सब प्रकार से आपको हेय सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे, पर आप अपना अटल सिद्धांत यही बनाए रहें कि चाहे हमारी निंदा हो चाहे स्तुति, चाहे हमारी आज ही मृत्यु हो जाय चाहे हम अभी बरसों जीएँ, चाहे हमें लक्ष्मी अंगीकार करे, चाहे हमारा सारा जीवन दारिद्र्यमय हो जाय पर हमने जो व्रत धारण किया है उससे न

हम कभी विचलित होंगे, न कभी पराङ्मुख होंगे और न कभी सर्वस्व खोकर भी अपने किए पर पश्चात्ताप करेंगे। चुपचाप अपने व्रत को पूरा करने का उद्योग करते जाइए। अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ बने रहिए, अपने धर्म का पालन करने में अग्रसर होते जाइए। निश्चय जानिए आपकी विजय होगी, आपके उद्योग सफल होंगे और अंतकाल में आपको यह संतोष होगा कि जगन्नियंता जगदीश्वर ने जो आपको मनुष्य-शरीर दिया था उसका उचित उपयोग करने से आप समर्थ हुए हैं और मातृभाषा की सेवा कर आप उससे उऋण हो सके हैं।

---

(१) चंद बरदाई

प्राक्कथन

जिस प्रकार संस्कृत के इतिहास में महर्षि वाल्मीकि आदि कवि माने गए हैं उसी प्रकार हिंदी साहित्य के इतिहास में चंद बरदाई का नाम और यश सर्वश्रेष्ठ गिना जाता है, तथा उसका पृथ्वीराजरासो नामक महाकाव्य हिंदी का आदि ग्रंथ माना जाता है। हिंदी का ऐसा कौन प्रेमी होगा जिसने चंद बरदाई का नाम न सुना हो ? पर कितने लोग ऐसे हैं जिनको उसके ग्रंथ को पढ़ने अथवा उसके मर्म्म को जानने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो ? बहुत दिनों तक तो हिंदी के प्रेमियों का इस कवि-संबंधी ज्ञान शिवसिंह-सरोज में दिए हुए वृत्तांत की सीमा से वेष्टित था, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि शिवसिंह को भी इस कवि के ग्रंथ देखने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ। उसने अपने "सरोज" में जो कुछ लिखा है वह सुना सुनाया ही जान पड़ता है। कर्नल टॉड ने अपने राजस्थान के इतिहास में इस कवि के ग्रंथ से बहुत कुछ सहायता ली है और अँगरेजी पढ़े लिखे लोगों में इस कवि की प्रसिद्धि टॉड साहब की कृपा का फल है। इसके अनंतर बीम्स साहब ने बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी

की अवधानता में इस ग्रंथ के संपादन करने का उद्योग किया, पर वे एक 'समय' भी समाप्त न कर सके। डॉक्टर हॉर्नली ने भी बीच में से इसका संपादन और अँगरेजी अनुवाद प्रारंभ किया। इसी समय उदयपुर के कविराजा श्यामलदासजी ने एक लेख एशियाटिक सोसाइटी की पत्रिका में छपवाया जिसमें इस बात के सिद्ध करने का उद्योग किया गया कि चंद का ग्रंथ ऐतिहासिक नहीं है और न पृथ्वीराज के समय का बना है, क्योंकि उसमें बहुत सी इतिहास-संबंधी भूलें हैं और बहुत कुछ बे-सिर-पैर की गप्प मारी गई है। बस फिर क्या था? किसी ने तब तक उस ग्रंथ को संपूर्ण पढ़ा तो था ही नहीं, और न उसके विषय में अनुसंधान ही किया था, कविराजाजी का कहना ठीक माना गया और ग्रंथ का प्रकाशन बंद कर दिया गया।

हमारे देशवासियों में तब तक वह जागृति ही नहीं हुई थी कि वे अपनी मातृभाषा की सेवा करते और उसके प्राचीन इतिहास के जानने का उद्योग करते; केवल पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने कविराजा श्यामलदासजी के आक्षेपों का उत्तर एक पुस्तिका द्वारा दिया और रासो के प्रकाशित करने में हाथ लगाया, पर उत्साह न मिलने के कारण वे भी उत्साह-हीन हो बैठे। निस्संदेह हमारे लिये यह बड़े आनंद और सौभाग्य की बात है कि अब पढ़े लिखे लोगों का बहुत कुछ ध्यान अपनी मातृभाषा की ओर आकर्षित हुआ है और वे

उसकी सेवा में तत्पर हैं। सच बात तो यह है कि वह देश कदापि उन्नति की आशा नहीं कर सकता जिसके वासियों में अपने प्राचीन इतिहास और गौरव की ओर सम्मान-दृष्टि न हो और जहाँ अपना महत्त्व स्थिर रखते हुए आगे बढ़ने का उद्योग न हो। किसी किसी इतिहासवेत्ता विद्वान् का तो यह भी मत है कि जो देश-सेवक हैं, जिन्होंने किसी प्रकार अपने देश की सेवा कर उसका मुखोज्ज्वल किया है, उनका उनकी जीवनावस्था में ही सम्मान होना आवश्यक है। मरे पीछे तो सबके लिये रोया जाता है, पर जीते जी किसी की प्रतिष्ठा करने से जो प्रभाव उसका दूसरों के चित्त पर पड़ता है वह मरे पीछे बहुत कुछ करने पर भी नहीं हो सकता। परंतु हमारे देश की ऐसी अवस्था नहीं है कि लोग ईर्ष्या और द्वेष को छोड़कर वास्तविक गुणग्राहकता दिखा सकें। निस्संदेह वह दिन परम सौभाग्य का होगा जब "गुनगाहक हिरानो" की उक्ति हम पर न लग सकेगी। जब तक वह अवस्था न प्राप्त हो तब तक प्राचीन महानुभावों के गुणगान से ही इस अभाव की पूर्त्ति करना और आगे के लिये वांछित अवस्था का मार्ग प्रशस्त करना प्रत्येक देशहितैषी का कर्त्तव्य होना चाहिए। हिंदी जगत् में इस कार्य की ओर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने सराहनीय कार्य किया है। प्राचीन हस्त-लिखित पुस्तकों की खोज से जो हिंदी ग्रंथ-रत्नों का पता लगा है और उनके ग्रंथकारों के नाम विदित हुए हैं उससे हिंदी भाषा के

इतिहास का बहुत कुछ गौरव बढ़ा है। इस स्थान पर यह कहना कदाचित् अनुचित नहीं होगा कि चंद बरदाई और उसके रासो के विषय में हमें जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है वह विशेष कर इसी खोज की रिपोर्टों की कृपा से हुआ है।

यह बात सर्वसम्मत है कि ईसवी सन् के कई सौ वर्ष पहले भारतवर्ष के उत्तर में एक भाषा बोली जाती थी जिसकी उत्पत्ति आर्यों की प्राचीन भाषा से हुई और जो समय पाकर नित्य प्रति के व्यवहार की साधारण भाषा हो गई। इस भाषा का नाम प्राकृत था। इसके साथ ही साथ एक दूसरी परिष्कृत और संस्कारयुक्त भाषा का पढ़े-लिखे लोगों में प्रचार था। यह संस्कृत नाम से प्रसिद्ध हुई और अब तक उसी नाम से प्रसिद्ध है।

इस प्राकृत भाषा में ही प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के आज्ञापत्र, जो अब लों चट्टानों पर खुदे हुए पाए जाते हैं, लिखे हुए हैं। उनके देखने और अध्ययन करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि उस समय प्राकृत भाषा दो मुख्य भागों में विभक्त थी—एक पश्चिमी और दूसरी पूर्वी। पश्चिमी प्राकृत का दूसरा नाम सौरसेनी था। इसी सौरसेनी प्राकृत का रूपांतर अपभ्रंश में हुआ और उससे हमारी व्रजभाषा और खड़ी बोली ने जन्म ग्रहण किया, पर यह जन्म कब हुआ, इसका निश्चय करना बड़ा कठिन है। शिवसिंह-सरोज के अनुसार तो हिंदी का आदि-कवि पुष्य है, पर न तो उसके किसी ग्रंथ का और

न उसकी भाषा का ही कहीं कुछ पता लगता है। दूसरा ग्रंथ खुमान-रासो है जो सन् ८३० में लिखा गया था। पर इस ग्रंथ की जो प्रतियाँ अब विद्यमान हैं उनमें महाराणा प्रतापसिंह का भी वृत्तांत सम्मिलित है, जिससे यह मानना पड़ेगा कि इसकी भाषा, जैसी कि अब यह वर्त्तमान है, नौवीं शताब्दी की नहीं कही जा सकती। तीसरा प्रसिद्ध कवि, जिसके विषय में हमें कुछ वास्तविक वृत्तांत विदित है, चंद बरदाई है। इसने एक ऐसी भाषा में ग्रंथ लिखा है जो प्राकृत के अंतिम रूप और हिंदी के आदि रूप से बहुत कुछ मिलती जुलती है। इससे यह सिद्धांत होता है कि उस समय भाषा का रूपांतर हो रहा था। इसके अतिरिक्त प्राकृत का अंतिम वैयाकरण हेमचंद्र भी ११५० के लगभग वर्त्तमान था। इसलिये जहाँ तक अभी पता चला है, चंद को ही हिंदी का आदि-कवि मानना पड़ता है और हिंदी भाषा की उत्पत्ति का काल ११ वीं शताब्दी के कुछ पूर्व नियत करना पड़ता है। यदि अनुसंधान करने पर और ग्रंथों का पता लग गया तो इस मत को छोड़ना पड़ेगा, परंतु जब तक यह न हो, इसी सिद्धांत को स्थिर मानना चाहिए।

अस्तु, चंद बरदाई का नाम हिंदी और ऐतिहासिक साहित्य में प्रसिद्ध है। वह हिंदी के अंतिम सम्राट् पृथ्वी-राज चौहान का अंतरंग मित्र और उनके दरबार का कविराज था। वह भट्ट जाति के, जो आजकल राव कहलाते हैं,

जगात नामक गोत्र का था और उसके पुर्खा पंजाब के रहनेवाले थे। और उनकी यजमानी अजमेर के चौहानों के यहाँ थी। चंद का जन्म लाहौर में हुआ था।

चरित्र

ऐसा कहा जाता है कि चंद का जन्म उसी दिन हुआ था जिस दिन पृथ्वीराज ने जन्म ग्रहण किया और दोनों ने इस असार संसार को भी एक ही संग छोड़ा। जैसा कि आगे लिखा जायगा, चंद का समय ईसवी की बारहवीं शताब्दी के अंतिम अर्धभाग में मानना चाहिए। उसके पिता का नाम बेण और विद्यागुरु का नाम गुरुप्रसाद था। वह षट्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक, मंत्र-शास्त्र, पुराण, नाटक और गान आदि विद्याओं में अच्छा व्युत्पन्न था। उसे भगवती जालंधरी देवी का इष्ट था और अपनी आराध्य देवी की कृपा से वह अदृष्ट काव्य भी कर सकता था। चंद के जीवनचरित्र की विशेष विशेष घटनाएँ पृथ्वीराज के चरित्र के साथ इस भाँति मिली हुई हैं कि वे अलग नहीं हो सकतीं।

पृथ्वीराज का नाम भारतवर्ष के इतिहास में सदा स्मरणीय बना रहेगा। हिंदू-साम्राज्य का अंत इसी के साथ समझना चाहिए। आपस की कलह और

पृथ्वीराज

परस्पर के वैर-विरोध ने भारतवर्ष का नाश किया। यही कारण पृथ्वीराज के भी अधःपतन का हुआ। चंद के रासो के अनुसार पृथ्वीराज सोमेश्वर का

पुत्र तथा अर्णोराज का पौत्र था। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तोंवर राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं—

अनँगपाल पुत्री उभय, इक दीनी बिजपाल।
इक दीनी सोमेस को, बीज बपन कलिकाल॥
एक नाम सुर सुंदरी, अनि वर कमला नाम।
दरसन सुर नर दुल्लही, मनो सु कलिका काम॥

अतएव अनंगपाल की सुंदरी नाम कन्या का विवाह कन्नौज के राना विजयपाल के संग हुआ और इस संयोग से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर से हुआ और इनकी संतति पृथ्वीराज हुआ। अनंगपाल के कोई पुत्र न होने के कारण उसने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया। इससे अजमेर और दिल्ली का राज्य एक हो गया। यह बात कन्नौज के राजा जयचंद को न भाई, क्योंकि वह कहता था कि दिल्ली के सिंहासन पर मुझे बैठना चाहिए न कि पृथ्वीराज को। परंतु विवाह के पूर्व विजयपाल ने अनंगपाल पर चढ़ाई की थी, और उस समय सोमेश्वर ने तोंवर राज्य की सहायता की थी; इसी कारण अनंगपाल का कमला पर अधिक स्नेह था। अस्तु, इसी डाह के कारण जयचंद ने समय पाकर राजसूय यज्ञ किया और भिन्न भिन्न स्थानों के राजाओं को यज्ञ का सब कार्य्य करने के लिये न्योता भेजा। पृथ्वीराज भी निमंत्रित

हुए, पर उन्होंने जयचंद के घर जाकर दासकृत्य करना स्वीकार नहीं किया। जयचंद ने अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर भी इसी समय रचा। संयोगिता की माता कटक के सोमवंशी राजा मुकुंददेव की कन्या थी। पृथ्वीराज से और संयोगिता से बिना एक दूसरे को देखे एक दूसरे का वृत्तांत जानने ही पर आंतरिक प्रेम हो गया था, पर तिस पर भी वह यज्ञ में नहीं गया। जयचंद ने जब यह देखा कि सब राजा तो आ गए पर पृथ्वीराज नहीं आया, तब उसे बड़ा क्रोध आया और उसने पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति बनवाकर द्वार पर रखवा दी। ऐसा करने से उसका आशय यह प्रकट करने का था कि यद्यपि पृथ्वीराज नहीं आया, पर उसकी प्रतिष्ठा ऐसी है कि वह आकर इस यज्ञ के समय द्वारपाल का कार्य करता। निदान जब स्वयंवर का समय आया तब जयचंद की कन्या जयमाल लेकर निकली। सब राजाओं को देखते देखते उसने अंत में आकर पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में माला डाल दी और इस प्रकार अपने गाढ़ तथा गूढ़ प्रेम का पूर्ण परिचय दिया। यह बात जयचंद को बहुत बुरी लगी। उसने अपनी कन्या का मन फेरने के लिये अनेक उद्योग किए; पर जब किसी प्रकार सफलता नहीं हुई तब उसने गंगा के किनारे एक महल में उसे एकांतवास का दंड दे दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने आकर जयचंद का यज्ञ विध्वंस कर दिया। जब पृथ्वीराज को सब वृत्तांत विदित हुआ तब उसने छिपकर कन्नौज आने

की तैयारी की। प्रकट रूप में तो चंद बरदाई आया, पर वास्तव में पृथ्वीराज अपनी सामंत-मंडली सहित पहुँच गया। निदान किसी प्रकार जयचंद को यह वृत्तांत प्रकट हो गया और उसने चंद का डेरा घेर लिया। बस, फिर क्या था, युद्ध छिड़ गया। इधर लड़ाई हो रही थी, उधर पृथ्वीराज छिपा हुआ कन्नौज की सैर कर रहा था। घूमते घूमते वह उसी महल के नीचे जा पहुँचा जहाँ संयोगिता कैद थी। दोनों की आँखें चार होते ही परस्पर मिलने की इच्छा प्रबल हो उठी। सखियों की सहायता से दोनों का मिलाप हुआ और वहीं गंधर्व विवाह करके दोनों ने सदा के लिये अपना संबंध जोड़ लिया। इसके अनंतर पृथ्वीराज अपनी सेना में आ मिला। सामंतों ने मुख-छबि देखकर मामला समझ लिया और उसे बहुत कुछ धिक्कारा कि वह अकेला ही क्यों चला आया और अपनी नव-विवाहिता दुलहिन को क्यों नहीं साथ लाया। इस पर लज्जित हो पृथ्वीराज पुनः संयोगिता के पास गया और उसे अपने घोड़े पर चढ़ा अपनी सेना में ले आया। बस, फिर क्या था, संयोगिता को इस प्रकार हरी जानकर पंग-सेना चारों ओर से उमड़ आई और बड़े भयानक युद्ध का श्रीगणेश हुआ। निदान युद्ध होता जाता था और पृथ्वीराज धीरे धीरे दिल्ली की ओर बढ़ता जाता था। बहुत से सामंत मारे गए, सेना की बड़ी हानि हुई, पर अंत में पृथ्वीराज अपनी राज्यसीमा में जा पहुँचा और जयचंद ने हार

मानी। इसके अनंतर उसने बहुत कुछ दहेज भेजकर दिल्ली में ही पृथ्वीराज और संयोगिता का विधिवत् विवाह करा दिया। अब तो पृथ्वीराज को राज-काज सब भूल गया, केवल संयोगिता के ही ध्यान और रस-विलास में उसका सारा समय बीतने लगा। इस युद्ध में ही बल का ह्रास हो चुका था। जो कुछ बचा बचाया था उसे इस रास-रंग में नष्ट कर दिया। यह अवसर उपयुक्त जान शहाबुद्दीन चढ़ आया। बड़ी गहरी लड़ाई हुई, पर अंत में पृथ्वीराज हारा और बंदी हो गया। कुछ काल के पीछे चंद भी पृथ्वीराज के पास गजनी पहुँच गया और वहाँ दोनों एक दूसरे के हाथ से स्वर्गधाम को पधारे। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज का वैर पुराना था। इसका प्रारंभ इस प्रकार हुआ था। शहाबुद्दीन एक नवयौवना सुंदरी पर आसक्त था जो उसे नहीं चाहती थी। वह हुसेनशाह पर आसक्त थी। शहाबुद्दीन के उस युवती और हुसेनशाह को बहुत दिक करने पर वे दोनों भागकर पृथ्वीराज की शरण चले आए। उस समय तक हिंदुओं में इतनी वीरता और इतना आतिथ्य-धर्म्म वर्त्तमान था कि वे शरणागत के साथ विश्वासघात न करके सदा उसकी रक्षा करते थे। जब शहाबुद्दीन को यह ज्ञात हुआ तब उसने पृथ्वीराज को कहला भेजा कि तुम उस स्त्री और उसके प्रेमी को अपने देश से निकाल दो। पृथ्वीराज ने उत्तर भेजा कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है; उन्हें निकालना तो दूर रहा,

मैं सदा उनकी रक्षा करूँगा। बस, अब क्या था, शहाबुद्दीन दिल्ली पर चढ़ दौड़ा। कई युद्ध हुए जिनका वर्णन पढ़-कर इस समय भी हिंदू-हृदय रोमांचित और वीररस-पूर्ण हो जाता है।

इन्हीं घटनाओं का वर्णन चंद बरदाई ने अपने ग्रंथ में अत्यंत विस्तारपूर्वक किया है। हिंदी भाषा में यह ग्रंथ अपनी समता नहीं रखता। यह ग्रंथ ६६ अध्यायों में विभक्त है। पर यह बात ध्यान में रख लेनी चाहिए कि पृथ्वीराजरासो इतिहास नहीं है, वह एक सुंदर काव्यग्रंथ है और उसकी सब बातों में ऐतिहासिक तथ्य खोजना असंगत है।

चंद का काव्य

कवि चंद ने अपने रासो के आदि पर्व में अपने पूर्व के कवियों का इस प्रकार वर्णन किया है—

प्रथमं भुजंगी सुधारी ग्रहन्नं ।
जिनैं नाम एकं अनेकं कहन्नं ॥
दुती लभ्भयं देवतं जीवतेसं ।
जिनैं विश्व राख्यौ बली मंत्र सेसं ॥
चवं वेद बंभं हरी कित्ति भाखी ।
जिनैं ध्रम्म साध्रम्म संसार साखी ॥
तृती भारती व्यास भारत्थ भाख्यौ ।
जिनैं उत्त पारथ्य सारथ्य साख्यौ ॥

चवं सुक्खदेवं परीखत्त पायं ।
जिनै उद्धस्यौ सब्ब कुर्बंस रायं ॥
नरं रूप पंचम्म श्रीहर्ष सारं ।
नलै राय कंठं दिने पद्ध हारं ॥

छटं कालिदासं सुभाषा सुबद्धं ।
जिनैं बागवानी सुबानी सुबद्धं ॥
कियो कालिका मुक्ख बासं सुसुद्धं ।
जिनैं सेत बंध्योति भोज-प्रबंधं ॥
सतं डंडमाली उलाली कवित्तं ।
जिनैं बुद्धि तारंग गंगा सरित्तं ॥
जयद्दव अट्ठं कबो कब्बिरायं ।
जिनैं केवलं कित्ति गोविंदगायं ॥

गुरुं सब्ब कब्बी लहू चंद कब्बी ।
जिनैं दर्सियं देबि सा अंग हब्बी ॥
कबो कित्ति कित्ति उकत्ती सुदिक्खी ।
तिनैं की उचिष्टी कवि चंद भक्खी ॥

इस प्रकार कवि चंद अपनी दीनता दिखाता हुआ कहता है कि मेरे पूर्व जो कवि-गुरु हो गए हैं उन्हीं की उक्ति को मैं पुनः कहता हूँ। वह पुनः कहता है—

कहँ लगि लघुता बरनवों,
कबिन-दास कबि चंद ।

उन कहिते जो उब्बरी,
सो बकहों करि छंद ॥

आगे चलकर कवि अपने काव्य के विषय में यह लिखता है—

आसा महीव कव्वी ।
नव नव कित्तीय संग्रहं ग्रंथं ॥
सागर सरिस तरंगी ।
बोहथ्थय उक्तियं चलयं ॥

काव्य समुद्र कवि चंद कृत,
मुगति समप्पन ग्यान ॥
राजनीति बोहिथ सुफल,
पार उतारन यान ॥

छंद प्रबंध कवित्त जति,
साटक गाह दुहथ्थ ॥
लहु गुरु मंडित खंडियहि,
पिंगल अमर भरथ्थ ॥

अति ढंक्यो न उधार,
सलिल जिमि सिब्बि सिवालह ।
बरन बरन सोभंत,
हार चतुरंग बिसालह ॥

चवं सुक्खदेवं परीखत्त पायं ।
जिनैं उद्धरयौ सब्ब कुर्बंस रायं ॥
नवं रूप पंचम्म श्रीहर्ष सारं ।
नलै राय कंठं दिने पद्ध हारं ॥

छटं कालिदासं सुभाषा सुबद्धं ।
जिनैं बागवानी सुबानी सुबद्धं ॥
कियो कालिका मुक्ख बासं सुसुद्धं ।
जिनैं सेत बंध्योति भोज-प्रबंधं ॥
सतं डंडमाली उलाली कवित्तं ।
जिनैं बुद्धि तारंग गंगा सरित्तं ॥
जयदेव अट्ठं कबी कब्बिरायं ।
जिनैं केवलं कित्ति गोविंदगायं ॥

गुरुं सब्ब कब्बी लहू चंद कब्बी ।
जिनैं दर्सियं देबि सा अंग हब्बी ॥
कबी कित्ति कित्ति उकत्ती सुदिक्खी ।
तिनैं की उचिष्टी कवि चंद भक्खी ॥

इस प्रकार कवि चंद अपनी दीनता दिखाता हुआ कहता है कि मेरे पूर्व जो कवि-गुरु हो गए हैं उन्हीं की उक्ति को मैं पुनः कहता हूँ। वह पुनः कहता है—

कहँ लगि लघुता बरनवों,
कबिन-दास कबि चंद ।

उन कहिते जो उब्बरी,
सो बकहों करि छंद ॥

आगे चलकर कवि अपने काव्य के विषय में यह लिखता है—

आसा महीव कव्वी ।
नव नव कित्तीय संग्रहं ग्रंथं ॥
सागर सरिस तरंगी ।
बोहथ्थय उक्तियं चलयं ॥

काव्य समुद्र कवि चंद कृत,
मुगति समप्पन ग्यान ॥
राजनीति बोहिथ सुफल,
पार उतारन यान ॥

छंद प्रबंध कवित्त जति,
साटक गाह दुहथ्थ ॥
लहु गुरु मंडित खंडियहि,
पिंगल अमर भरथ्थ ॥

अति ढंक्यो न उधार,
सलिल जिमि सिब्बि सिवालह ।
बरन बरन सोभंत,
हार चतुरंग बिसालह ॥

बिमल अमल बानी विसाल,
बयन बानी बर ब्रन्नन।
उक्तिन बयन बिनोद,
मोद श्रोतन मन हर्न्न॥

युत अयुत जुक्ति बिचार बिधि,
बयन छंद छुट्यो न कह।
घटि बढ्ढि मति कोइ पढ़इ,
तौ चंद दोस दिज्जौ न वह॥

उक्तिधर्मविशालस्य राजनीति नवं रसं।
षट्भाषापुराणं च कुरानं कथितं मया॥

कवि चंद अपने ग्रंथ की काव्य-संख्या यों बताता है—

सत सहस्र नष सिष सरस,
सकल आदि मुनि दिष्य।
घट बढ़ मत कोऊ पढ़ौ,
मोहि दूसन न बसिष्य॥

अपने महाकाव्य का सारांश चंद एक स्थान पर इस प्रकार देता है—

दानव कुल छत्रीय, नाम ढूँढा रष्षस बर।
तिंहि सु जोत प्रथिराज, सूर सामंत अस्ति भर॥

जीह जोति कबि चंद, रूप संजोगि भोगि भ्रम ।
इक्क दीह ऊपन्न, इक्क दीहै समाय क्रम ॥

जथ कथ्थ होइ निर्मये, जोग भोग राजन लहिय ।
बज्रंग बाहु अरि-दल-मलन, तासु कित्ति चंदह कहिय ॥

प्रथम राज चहुआन पिथ्थ बर ।
राजथान रंजे जंगल धर ॥
मुष सु भट्ट सूर सामंत दर ।
जिहि बंध्यो सुरतान प्रानभर ॥

हं कबि चंद मित्त सेवह पर ।
अरु सुहित सामंत सूर बर ॥
बंधौं कित्ति पुसार सार सह ।
अष्षों बरनि अंति थिति थह ॥

रासो ही में लिखा है कि चंद ने दो विवाह किए थे। इनमें से पहली स्त्री का नाम कमला उपनाम मेवा, और दूसरी का गौरी उपनाम राजोरा था। चंद रासो की कथा अपनी स्त्री गौरी से कहता है। चंद की ग्यारह संतति हुई, दस लड़के और एक लड़की। कन्या का नाम रागबाई था।

संतान

बिमल अमल बानी विसाल,
बयन बानी बर ब्रन्नन ।
उक्तिन बयन बिनोद,
मोद श्रोतन मन हर्न्न ॥

युत अयुत जुक्ति बिचार बिधि,
बयन छंद छुट्यो न कह ।
घटि बढ्ढि मति कोइ पढ़इ,
तौ चंद दोस दिज्जौ न वह ॥

उक्तिधर्मविशालस्य राजनीति नवं रसं ।
षट्भाषापुराणं च कुरानं कथितं मया ॥

कवि चंद अपने ग्रंथ की काव्य-संख्या यों बताता है—

सत सहस्र नष सिष सरस,
सकल आदि मुनि दिष्य ।
घट बढ़ मत कोऊ पढ़ौ,
मोहि दूसन न बसिष्य ॥

अपने महाकाव्य का सारांश चंद एक स्थान पर इस प्रकार देता है—

दानव कुल छत्रीय, नाम ढूँढा रष्षस बर ।
तिंहि सु जोत प्रथिराज, सूर सामंत अस्ति भर ॥

जीह जोति कबि चंद, रूप संजोगि भोगि भ्रम ।
इक दीह ऊपन्न, इक्क दीहै समाय क्रम ॥

जथ कथ्थ होइ निर्मये, जोग भोग राजन लहिय ।
बज्रंग बाहु अरि-दल-मलन, तासु कित्ति चंदह कहिय ॥

प्रथम राज चहुआन पिथ्य बर ।
राजधान रंजे जंगल धर ॥
मुष सु भट्ट सूर सामंत दर ।
जिहि बंध्यो सुरतान प्रानभर ॥

हं कबि चंद मित्त सेवह पर ।
अरु सुहित सामंत सूर बर ॥
बंधौं कित्ति पुसार सार सह ।
अष्षों बरनि अंति थिति थह ॥

संतान

रासो ही में लिखा है कि चंद ने दो विवाह किए थे । इनमें से पहली स्त्री का नाम कमला उपनाम मेवा, और दूसरी का गौरी उपनाम राजोरा था । चंद रासो की कथा अपनी स्त्री गौरी से कहता है । चंद की ग्यारह संतति हुई, दस लड़के और एक लड़की । कन्या का नाम रागबाई था ।

रासो के बानबेध समय में चंद के लड़कों के नाम इस प्रकार दिए हैं—

दहति पुत्र कबि चंद,
"सूर" "सुंदर" "सुज्जानं"
"जल्ह" "बल्ह" "बलिभद्र"
कब्बिय "केहरि" बष्षानं ॥
"बीरचंद" "अवधूत"
दसम नंदन "गुनराजं"
अप्प अप्प क्रम जोग,
बुद्धि भिन भिन करि काजं ॥
जल्हन जिहाज गुनसाज कबि,
चंद छंद सायर तिरन।
अप्पौ सुहित्त रासौ सरस,
चल्यौ अप्प रज्जन सरन ॥

यह विदित नहीं है कि किस स्त्री से कौन संतति हुई थी और 'जल्ह' को छोड़कर अन्य किसी के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं। 'जल्ह' के विषय में तीन सूचनाएँ रासो में मिलती हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) पृथ्वीराज के पुत्र का नाम रैणसी था। रासो के "दिल्ली-वर्णन-प्रस्ताव" में रैणसी की बालक्रीड़ा का वर्णन है। वहीं पर उन सामंत-पुत्रों के नाम भी दिए हैं जो राज-

कुमार के संग खेल-कूद में सम्मिलित रहते थे। उस वर्णन में जल्ह के विषय में यह लिखा है—

"बरदाइ सुतन जल्हन कुमार।
मुख बस्स देबि अम्बिका सार"।

(२) दूसरा वर्णन जल्ह के विषय में उस स्थान पर है जहाँ पृथ्वीराज की बहिन पृथाबाई के विवाह की कथा है। रासो के अनुसार पृथाबाई का विवाह चित्तौर के रावल समर-सिंह के संग हुआ था। कवि वर्णन करता है कि अन्य तीन लोगों के साथ जल्ह भी दहेज में दिया गया था। "पृथा-विवाह-समय" में यह लिखा है—

"श्रीपत साह सुजान देश थम्भह संग दिन्नो।
अरु प्रोहित गुरुराम ताहि अग्या नृप किन्नो॥
रिषीकेस दिय ब्रह्म ताहि धनंतर पद सोहै।
चंदसुतन कबि जल्ह असुर सुर नर मन मोहै॥

कबि चंद कहै बरदाय बर
फिर सुराज अग्या करिय।
कर जोरि कह्यो पीथल नृपति
तब रावर सत भाँवर फिरिय॥"

समरसिंह का रासो में अनेक स्थानों पर वर्णन है। जयचंद ने इन्हें अपनी ओर मिलाने का उद्योग किया था, पर वे सदा पृथ्वीराज का साथ देते रहे और अंत में शहा-

बुद्दीन के साथ पृथ्वीराज के अंतिम युद्ध में मारे गए। उस समय पृथाबाई उनके शरीर के साथ सती हुई। सती होने के पहले उन्होंने अपने पुत्र को एक पत्र लिखा था, जिसमें सूचना दी थी कि श्री हजूर समर में मारे गए और उनके संग रिषीकेसजी भी वैकुंठ को पधारे हैं। रिषीकेसजी उन चार लोगों में से हैं जो दिल्ली से मेरे संग दहेज में आए थे, इसलिये इनके वंशजों की खातिरी रखना। "ने पाछे मारा च्यारी गरां का मनषां की षात्री राष जो। ई मारा जीव का चाकर हे जो थासु कदी हरामषोर नावेगा।" यह पत्र माघ सुदी १२ अनंद विक्रम संवत् ११५७ (वि० सं० १२४८) का लिखा है। यह पत्र परवाने के समान माना जाता था, इसलिये जब यह पुराना हो गया तब संवत् १७५१ में उदयपुर के महाराणा जयसिंह ने इसे पुनः लिखकर अपनी सही कर दी। नए परवाने में ऊपर लिखे वाक्यों को उद्धृत करके यह लिखा है—"ओ लष्यो हो जो देषेन नवोकरा देवाणो जो थे अणी राज का स्यामषोर हो।" अतएव यह स्पष्ट है कि जल्ह दहेज में चित्तौर को दिया गया था और वहाँ उसको प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी। कहा जाता है कि मेवाड़ राज्य का "राजौरा राय" वंश जल्ह से ही प्रारंभ होता है।

(३) तीसरा उल्लेख जल्ह का उस समय है जब अंतिम लड़ाई हो चुकी है और पृथ्वीराज शहाबुद्दीन के बंदी हो गए हैं। अपने सखा तथा राजा के पकड़ जाने पर चंद

को बड़ा दुःख हुआ। उसने अपने राजा के पास जाने की ठानी। उसकी स्त्री ने उसे बहुत समझाया, पर चंद ने किसी की एक भी न सुनी। इस स्थान पर रासो में जो पति-पत्नी का संभाषण दिया है, वह बड़ा ही मनोहर तथा उत्साह-वर्धक है। अंत में यह लिखा है—

उत्तर जानि त्रिया पथ लग्गी।
तुम पिय नाद अनाहद जग्गी॥
जोग जुगति उद्धारन सामं।
दो दो जल्ह सरै किम कामं॥

इसका उत्तर चंद इस प्रकार देता है—

सकल जोग सांइ सुध्रम, तप जब सांई ध्रम्म।
मोहि सुगति सूझत मरम, सुजस कित्ति गुनक्रम्म॥
दिवस रयन राजन सुमति, अरु गज्जन वै रोस।
मन बच क्रम एकंग होय, सामि उधारों दोस॥
उभय सत्त नवरस त्रिगुन, किय पूरन गुन तत्त।
रासौ नाम उदद्धि जुति, गहौ मत्ति मैं सत्ति॥

इस प्रकार कवि कहता है कि जब तक मैं स्वामी का उद्धार न कर लूँगा, मुझे चैन नहीं पड़ेगा। मैंने उसकी कीर्त्ति लिख ली है, वह सागर के समान है। इस कीर्त्तिरूपी रासो को चंद ने जल्ह को सौंपकर सब बातें समझा दीं और आप गजनी की राह ली।

दहति पुत्र कवि चन्द कै, सुंदर रूप सुजान।
इक्क जल्ह गुन बावरो, गुन समंद ससि मान॥
आदि अंत लगि वृत्त मन, ब्रन्नि गुनी गुनराज।
पुस्तक जल्हन हथ्थ दै, चलि गज्जन नृप काज॥

'राजा रैणसी-समय' में लिखा है—

प्रथम बेद उद्धार, बंभ मछहत्तन किन्नो।
दुतिय बीर बाराह, धरनि उद्धरि जस लिन्नो॥
कौमारक नभदेस, धरम उद्धरि सुर सष्षिय।
कूरम सूर नरेस, हिंद हद उद्धरि रष्षिय॥
रघुनाथ चरित हनुमंत कृत,
भूप भोज उद्धरिय जिम।
प्रथिराज सुजस कवि चंद क्रित,
चंद नंद उद्धरिय इम॥

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि जिस प्रकार कादंबरी के रचयिता बाणभट्ट के अधूरे काम को उसके पुत्र ने अंशतः पूर्ण किया, उसी प्रकार हिंदी के आदि-

जल्ह

काव्य को चंद पूरा नहीं कर सका। अंतिम लड़ाई के अनंतर उसको अपने प्यारे राजा के उद्धार की उत्कंठा ने अव्यवस्थित कर रक्खा था और उसी ओर वह अपने चित्त को लगाए हुए था, पर साथ ही उसे भय था कि कहीं इस उद्योग में मेरा शरीरपात हो जाय, तो मेरे साथ

ही मेरे राजा की कीर्त्ति का भी लोप हो जायगा। इसलिये उसने सब कथा को "उभय सत नवरस त्रिगुन" दिनों में पूरा कर अपने पुत्र जल्ह के हवाले किया। जल्ह भी लिखता है कि जिस प्रकार हनुमंत-कृत रघुनाथ-चरित का भोजराज ने उद्धार किया था उसी प्रकार कवि चंद-कृत पृथ्वीराज-सुजस का चंद के पुत्र (जल्ह) ने उद्धार किया। इन बातों से यह स्पष्ट है कि पृथ्वीराजरासो का संस्कार, उसका क्रम आदि सब जल्ह की कृति है। साथ ही यह भी निश्चय है कि बड़ी लड़ाई के अनंतर की कथा अर्थात् बानबेध-समय और रैणसी-समय तो पूर्णतया उसी की रचना है तथा बड़ी लड़ाई का कम से कम अंतिम भाग उसका लिखा है।

जल्ह की कविता के विषय में इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि चंद का यह प्रिय पुत्र था और निस्संदेह कवित्व-शक्ति में अपने पिता का वात्सल्यभाजन था। चंद ने स्वयं लिखा है कि इसके "मुख बसै देवि अंबिकासार"। जल्ह की कविता में वह प्रौढ़ता और गंभीरता नहीं पाई जाती, जो चंद की रचना में पद पद पर मिलती है और न उसका वर्णन अपने पिता के समान उत्साहवर्द्धक ही है। आगे जल्ह की कविता के कुछ चुने हुए उदाहरण दिए जाते हैं। यदि मेवाड़ के 'राजोरा राय-वंश' के इतिहास की विशेष छान बीन की जाय तो कदाचित् उसके आदि-पुरुष जल्ह के विषय में अनेक नवीन बातें ज्ञात हो सकें।

जल्ह पृथ्वीराज की शब्दवेधी बाणविद्या की प्रशंसा करता हुआ कहता है—

नयन बिना नरघात, कहौ ऐसी कहु किद्धी ।
हिंदू तुरत अनेक, हुए पै सिद्ध न सिद्धी ॥
धनि साहस धनि हथ्थ, धनि जस बासन पायो ।
ज्यों तरु छट्टै पत्र, उड़ै अप्प सत्तियौ आयो ॥
दिष्षैं सुसथ्थ यौ साहकौ, मनु नछित्र नभ तें टरयौ ।
गोरी नरिंद कवि चंद कहि, आय धरप्पर इम परयौ ॥

मृत्यु पर पृथ्वीराज का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

परयौ संभरी-राइ दीसै उतंगा ।
मनो मेर बज्री कियं शृंग भृंगा ॥
जिनैं बार बारं सुरत्तान साह्यौ ।
जिनैं भंजि के भीम चालुक्क गाह्यौ ॥
जिनैं भंजि मैवात द्वै बार बंध्यौ ।
जिनैं नाहरं राइ गिरिनार संध्यौ ॥
जिनैं भंजि थट्टा सुकठ्यौ निकंदं ।
जिनैं भंजि महिपाल रिनथंभ दं दं ॥
जिनैं जीति जद्दों ससी व्रत्त आनी ।
जिनैं भज्जि कमधज्ज रष्यो जुपानी ॥
जिनैं भंजि षंडा सुउज्जैन माही ।
परंमार भीमंग पुत्री बिबाही ॥

जिनैं दौरि कमधज्ज साहाय कीयौ ।
जिनैं कंगुरा लेय हम्मीर दीयौ ॥
जिनैं बोलि कज बालका पेत ढाह्यौ ।
जिनैं गाहिरा पंग संजोग लायौ ॥

भए राइ राजा अनेकं सुनाथं ।
किनैं सह कै सथ्थ मुक्यो न बानं ॥
इनें संभरी राइ साहाब हन्यौ ।
उभै दीन जासं पराक्रम्म सन्यौ ॥

सबं देव हूरं पुहप्पं बँधाए ।
सुरं जोति जोतिं सजोती समाए ॥
तिनक्की उपम्मा कबी चंद भाषी ।
मिले हंस हंसं रवीचंद साषी ॥

जल्ह रासो की कथा समाप्त करके उसका माहात्म्य इस प्रकार वर्णन करता है—

नवरस बिलास रासौ विराज ।
एकेक भाष अन्नेक काज ॥
सो सुनय बिबिध रासौ बिबेक ।
गुन अनंत सिद्धि पावहिं अनेक ॥

सूरत दान बिग्यान मान ।
नाटक गेय बिद्या बिनान ॥

चातुरी भेद बचनह बिलास।
गति गरम नरम रस हास रास॥
गति साम दाम भर दंड भेद।
सब काम धाम त्रिब्बान वेद॥

बाचंत कबित्त हारंत गोप।
बर बिनय बिद्धि बुभ्भय सदोप॥
बिधि सस्त्र सार रिन बहन भार।
गति मान दान निरबान कार॥

चौ बरन धरम कारन बिबेक।
रस भाव भेय बिज्ञान नेक॥
पौरान सकल कथ अथ्थ भाय।
भारथ्थ अथ्थवैवन्नंताय॥

कलि काव्य रस्स प्राहा सरंग।
बंधनिय छंद बुभ्भे सुजंग॥
बिब्वेक दान बिच्चार सार।
गति बाम बाम रति रंग भार॥

नव सपत कला बिच्चार बेद।
बिग्यान थान चौरासि भेद॥
गति पंच अरथ बिग्यान मान।
उप्पमा जेब मति अंग थान॥

रितु रस रसानि बेलास गत्ति।
संतन सुमंत आभास अत्ति॥
भोगवन पहु सिति बिचार बिद्धि।
अरु इष्ट देव उप्पाय सिद्धि॥

गंध्रब्ब कला संगीत सार।
पिंगलह भेद लघु गुरु प्रचार॥
पिता मात पति परिचरत भेय।
राजंग राज राजंत जेय॥

परब्रह्मध्यान उद्धार सार।
बिध भगति बिस्व तारन्न पार॥
आधुनह बेद हय गय बिनान।
ग्रह गति मति जोतिग्ग थान॥

कलि सार सार बुझ्झहि बिचार।
संभरहि भूप रासौ सुधार॥
पावहि सु अरथ अरु ध्रम्म काम।
निरमान मोष पावहि सुधाम॥

यह वृत्तांत चंद और उसके पुत्र जल्ह का है। वास्तव में ऐसा अपूर्व ग्रंथ हिंदी में दूसरा नहीं है। इस ग्रंथ पर, जैसा कि लिखा जा चुका है, बहुत कुछ आक्षेप हुए हैं। पहले विचारने की बात यह है कि यह ग्रंथ बहुत पुराना है, यहाँ

रासो पर आक्षेप

तक कि इसके पहले का कोई ग्रंथ हिंदी में मिलता ही नहीं। दूसरे इसका राजपूताने में बहुत कुछ प्रचार रहा है, यहाँ तक कि अनेक राज्यों का इतिहास इसी के आधार पर बना है। तिस पर यह काव्य ग्रंथ है। अतएव इसमें अत्युक्ति का होना सम्भव ही नहीं, आवश्यक भी है। इस अवस्था में जो लोग यह आशा करते हैं कि चंद के ग्रंथ को हम केवल निरे इतिहास-ग्रंथ की दृष्टि से जाँचें, वे भूल करते हैं। निस्संदेह इसमें ऐतिहासिक बातें भरी पड़ी हैं पर यह इतिहास ग्रंथ नहीं है, यह एक महाकाव्य है। अतएव इस पर विचार करते समय दोनों—इतिहास और काव्य—के लक्षणों पर ध्यान देकर तब इस पर अपना मत प्रकाशित करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इसकी आदि प्रति हमें प्राप्त नहीं है, और न उसके प्राप्त होने की आशा ही है। जो प्रतियाँ इस समय उपलब्ध हैं वे न जाने कितनी प्रतिलिपियों के बाद लिखी गई हैं। जिन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी के रामचरितमानस को देखा और उसकी प्राचीन प्रतियों को आधुनिक छपी प्रतियों से मिलाया होगा, उन्होंने देखा होगा कि तुलसीदास की असल रामायण में और आजकल की छपी रामायणों में आकाश-पाताल का अन्तर है। केवल शब्दों ही का परिवर्तन नहीं है, वरन् क्षेपकों की यहाँ तक भरमार हुई है कि सात के स्थान पर आठ कांड हो गए हैं। जब तुलसी-कृत रामायण जैसे सर्वमान्य, सर्व-प्रचलित और सर्व-प्रसिद्ध ग्रंथ

की यह अवस्था हो सकती है तब इसमें आश्चर्य ही क्या है कि चंद के महाकाव्य में भी क्षेपक भर गए हों और वह हमें आज आदि रूप में प्राप्त न हो। आशा है कि समय पाकर और प्रतियों के मिलने पर इसका बहुत कुछ निर्णय हो सके, परंतु जब तक यह न हो तब तक जो प्रतियाँ इस समय प्राप्त हैं उनके आधार पर इसकी जाँच पड़ताल करना और इसका रसास्वादन करना कदापि अनुचित नहीं है।

सबसे बड़ा भारी आक्षेप इस ग्रंथ पर यह लगाया जाता है कि इसमें जितने संवत् दिए हैं, वे सब झूठे हैं। पृथ्वीराज का राजत्व-काल तीन मुख्य घटनाओं के लिये प्रसिद्ध है—(१) पृथ्वीराज और जयचंद का युद्ध, (२) कालिंजर के परमर्दिदेव की पराजय, और (३) शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज का युद्ध, जिसमें पृथ्वीराज बंदी बने और अंत में मारे गए। इस स्थान पर यह उचित होगा कि पृथ्वीराज, जयचंद, परमर्दिदेव और शहाबुद्दीन का समय ठीक ठीक जान लिया जाय और इस बात का निर्णय दानपत्रों तथा शिलालेखों से हो तो अति उत्तम है; क्योंकि इनसे बढ़कर दूसरा कोई विश्वास-दायक मार्ग इस बात के जानने का नहीं है।

अब तक ऐसे चार दानपत्रों और शिलालेखों का पता लगता है, जिन पर पृथ्वीराज का नाम पाया जाता है। इनका समय विक्रम संवत् १२२४ और १२४४ के बीच का है।

जयचंद के संबंध में १२ दानपत्रों का पता लगा है। इनमें से दो पर, जो विक्रम संवत् १२२४ और १२२५ के हैं, इसे युवराज करके लिखा है। शेष १० पर 'महाराजाधिराज जयचंद' यह नाम लिखा है। इनका समय विक्रम संवत् १२२६ से १२४३ के बीच में है।

कालिंजर में राजा परमर्दिदेव के, जिनको पृथ्वीराज ने पराजित किया था, छः दान-पत्र और शिलालेख वर्त्तमान हैं, जिनका समय विक्रम संवत् १२२३ से १२५८ तक है। इनमें से एक में, जो विक्रम संवत् १२३९ का है, पृथ्वीराज और परमर्दिदेव के युद्ध का वर्णन है।

शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का समय फारसी इतिहासों से सिद्ध है और उसके विषय में किसी का मतभेद नहीं है। मेजर रेवर्टी 'तवक़ाते नासरी' के अनुवाद के ४५६ पृष्ठ में लिखते हैं कि ५८७ हिजरी (सन् ११९० ई०)-में उन सब ग्रंथकारों के अनुसार, जिनसे मैं उद्धृत कर रहा हूँ, तथा अन्य अनेक ग्रंथ-कारों के अनुसार, जिनमें इस ग्रंथ का कर्त्ता भी संमिलित है, राय पिथौरा के साथ शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी का पहला युद्ध हुआ और उसका दूसरा युद्ध, जिसमें राय पिथौरा पराजित हुआ और मुसलमान लेखकों के अनुसार मारा गया, निस्संदेह हिजरी सन् ५८८ (११९१ ई० = वि० सं० १२४८) में हुआ।

ऊपर जिन संवतों का वर्णन किया गया है वे पृथ्वी-राज, जयचंद और परमर्दिदेव के दानपत्रों तथा शिलालेखों

से लिए गए हैं और एक दूसरे को शुद्ध और प्रामाणिक सिद्ध करते हैं। निदान, इन सबसे यह सिद्धांत निकलता है कि पृथ्वीराज विक्रमीय तेरहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध और ईसवी बारहवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध में वर्तमान था और उसका अंतिम युद्ध वि० संवत् १२४८ (ई० ११९१) में हुआ।

जिन शिलालेखों का ऊपर उल्लेख हो चुका है उनके अतिरिक्त अर्णोराज और सोमेश्वर के भी शिलालेख और दान-पत्र मिलते हैं जो ऊपर दिए हुए सन्-संवतों की प्रामाणिकता और ऐतिहासिक सत्यता को सिद्ध करते हैं।

अब हम रासो के सन्-संवतों पर विचार करेंगे। चार भिन्न-भिन्न संवतों पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि वे अन्य इतिहासों में दिए हुए संवतों से कहाँ तक मिलते हैं। चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् १११५ में, दिल्ली गोद जाना ११२२ में, कन्नौज जाना ११५१ में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में लिखा है। 'तबक़ाते नासरी' में अंतिम युद्ध का समय, जिसमें पृथ्वीराज पराजित हुआ और बंदी बनाया गया, ५८८ हिजरी (१२४८ वि०) दिया है। अब यदि १२४८ में ११५८ घटा दिया जाय तो ९० बाकी बचता है। इसके अतिरिक्त इन चार भिन्न भिन्न अवसरों पर पृथ्वीराज के वयःक्रम का हम ध्यान करें तो यह सिद्ध होता है कि कथित घटनाएँ १२०५, १२१२, १२४१ और १२४८ में हुई, न कि १११५, ११२२, ११५१ और ११५८ में,

जैसा कि रासो में दिया है। यह भेद नीचे दिए हुए कोष्टक से स्पष्ट हो जायगा।

घटनाएँ	रासो के संवत्	पृथ्वीराज का उस समय वय	अन्य पुस्तकों का संवत्	अंतर
जन्म	११९५-१६	०	१२०५-०६	९०-९१
गोद जाना	११२२-२३	७	१२१२-१३	९०-९१
कन्नौज-गमन	११५१-५२	३६	१२४१-४२	९०-९१
अंतिम युद्ध	११५८-५९	४३	१२४२-४९	९०-९१

अब यदि प्रत्येक घटना के संवत् में पृथ्वीराज के जीवन के शेष वर्ष जोड़ दिए जायँ तो सबका समय १२४८ हो जाता है। जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि चंद ने अपने ग्रंथ में ९०-९१ वर्ष की भूल की है। परंतु सब स्थानों में समभेद का रहना भूल की गिनती में नहीं आ सकता। चंद ने ९०-९१ वर्ष का अंतर अपने ग्रंथ में वर्णित घटनाओं में क्यों रक्खा, इसका कोई उपयुक्त कारण अवश्य होगा।

हिंदी हस्त-लिखित पुस्तकों की प्रथम वार्षिक रिपोर्ट (सन् १९०० ई०) में मैंने कुछ पट्टों और परवानों के फोटो दिए हैं जिनका संबंध ऊपर कही हुई घटनाओं से है। ये

पट्टे ११३५ से ११५७ के बीच के लिखे हुए हैं। इनसे ये बातें प्रकट होती हैं—

(१) ऋषीकेश कोई बड़ा वैद्य था, जिसका बहुत ही घनिष्ठ संबंध मेवाड़ और दिल्ली के राजघरानों से था और जो पृथाबाई के विवाह-समय चित्तौर के रावल समरसिंहजी को दहेज में दिया गया था। यह घटना इन परवानों के अनुसार वि० संवत् ११४५ में हुई। महाराणी पृथाबाई ने जो अंतिम पत्र अपने पुत्र को लिखा था, उसमें उन चार घरानों का उल्लेख था, जो उनके साथ दिल्ली से आए थे और जिन्हें सम्मान-पूर्वक रखने के लिये उसने अपने पुत्र को आदेश किया था। रासो के पृथा-विवाह-समय के एक पद से, जो ऊपर दिया जा चुका है, यह कथा स्पष्ट हो जाती है।

इस पद से प्रकट होता है कि जिन घरों का वर्णन पृथाबाई ने अपने पत्र में किया है, उनके विषय में चंद का कथन है कि वे दहेज में रावल समरसिंह को दिए गए थे। श्रीपतसाह दैपुरा महाजन वंश का, गुरुराम प्रोहित सनावढ़ ब्राह्मणों का, ऋषीकेश आचरज (दायमा) ब्राह्मणों का और चंद का पुत्र जल्ह राजोरा राय-वंश का आदि पुरुष था। ये चारों लोग पृथाबाई के साथ चित्तौर गए थे और अब तक इनके वंशजों की मेवाड़ दर्बार में विशेष प्रतिष्ठा है।

(२) पृथ्वीराज का अंतिम युद्ध, वि० संवत् ११५७ के माघ शुक्ल पक्ष में हुआ था, जो समय चंद के दिए हुए समय से मिलता है।

(३) कविराजा श्यामलदासजी और उनके अनुयायी लोगों के न मानने पर भी यह बात सिद्ध है कि पृथाबाई का विवाह समरसिंह के साथ हुआ। मेवाड़ वंश का जो वंश-वृक्ष उस दर्बार से प्रकट किया जाता है, वह ठीक नहीं माना जा सकता। मुहम्मद अबदुल्ला लिखित "तारीख तुहफ़ै राजस्थान" में—जो मेवाड़ दर्बार की ओर से छापी गई थी और जिसे स्वयं महाराणाजी तथा कविराजा श्यामलदासजी ने सुना और स्वीकार किया था—उदयपुर वंश की नामावली दी हुई है, जिसमें से दो नाम जान-बूझकर निकाल दिए गए हैं—एक तो उदयसिंह का और दूसरा बनवीर का, यद्यपि आगे चलकर यह लिखा गया है कि वे दोनों उदयपुर की गद्दी पर बैठे थे। इस स्पष्ट पूर्वापर-विरोध का कारण भी खोजने पर उसी ग्रंथ से मिल जाता है। उसमें लिखा है कि इन दोनों में से एक तो दासी-पुत्र था और दूसरे ने अपनी कन्या को एक मुसलमान को देने को कहा था। अतएव एक ऐसे वंश ने, जो बहुत दिनों से राजपूताने के अन्य वंशों में प्रसिद्ध तथा श्रेष्ठ चला आता है, यह उचित न समझा कि ऐसे दो नाम उसके वंश में बने रहें, जिनके कारण उसके निर्मल यश में कलंक लगता हो। बस, फिर क्या था, दोनों नाम वंशावली में से अलग कर दिए गए। यद्यपि वंश-गौरव के विचार से यह कार्य किसी प्रकार प्रशंसनीय माना जा सकता है, पर इतिहास के लिये इससे बढ़कर दूसरा कोई घोर पाप नहीं हो सकता।

इस बात से स्पष्ट है कि जो इस प्रकार का कार्य कर सकता है, वह यदि इस बात को माने कि पृथाबाई का विवाह समरसिंह के साथ हुआ ही नहीं और समरसिंह पृथ्वीराज की पताका के अधीन होकर न लड़े और न मारे गए तो इतिहास-वेत्तागण उन पत्रों और परवानों पर, जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है, ध्यान देकर स्वयं विचार और न्याय कर सकते हैं कि यह बात कहाँ तक सत्य मानी जा सकती है।

इस संबंध में एक ऐतिहासिक घटना ऐसी है, जिस पर विचार कर लेना आवश्यक है। यदि समरसिंह पृथ्वीराज के समकालीन थे तो उनके पुत्र रतनसी का युद्ध अलाउद्दीन खिलजी के साथ १३०२-३ ई० में कैसे हुआ? सादड़ी के जैन शिलालेख में—जिस पर १४९६ विक्रम संवत् खुदा है और जो राणा कुंभाकरण के राजत्वकाल का है—बाप्पा रावल से लेकर कुंभाकरण तक राजाओं की नामावली दी है। उसमें लिखा है कि भुवनसिंह ने, जिसका नाम समरसिंह के पीछे दिया है, अलाउद्दीन को हराया। 'तुहफ़ै राजस्थान' में जो नामावली दी है उसमें समरसिंह और भुवनसिंह के बीच ९ राजाओं के नाम और दिए हैं। वे ये हैं—समरसी, रतनसी, करनसी, राहुत, नरपत, दिनकर, जसकरण, नागपाल, पूर्णपाल, पृथ्वीपाल और भुवनसिंह। भुवनसिंह के पीछे भीमसिंह प्रथम, जयसिंह प्रथम और लक्ष्मणसिंह ये तीन नाम दिए हैं।

कर्नल टॉड लिखते हैं कि राहुत से लक्ष्मणसिंह के बीच में ९ राजा चित्तौर की गद्दी पर बैठे और थोड़े थोड़े दिनों तक राज करके सब सुरधाम को सिधारे। इन ९ राजाओं में से ६ लड़ाई में मारे गये। इन सबों ने गया को मुसलमानों से रक्षित रखने के लिये अपने प्राण दिए। पृथ्वीपाल ने इन मुसलमानों को डरा दिया और अलाउद्दीन के पूर्व तक वे अपने जघन्य कर्म से पराङ्मुख रहे। अब इससे भुवनसिंह का समय १२८० ई० के लगभग होता है और लक्ष्मणसिंह का उससे कुछ पीछे। उससे यह संभव जान पड़ता है कि वह रतनसी नहीं था, जिसकी स्त्री प्रसिद्ध सुंदरी पदमावती के लिये अलाउद्दीन ने चित्तौर का नाश किया, वरन् वह लक्ष्मणसिंह था, जिसका नाम अब तक इस संबंध में प्रचलित चला आता है। कविराजा श्यामलदासजी जिस शिलालेख को अपना पक्ष समर्थन करने के लिये उपस्थित करते हैं, वह ठीक नहीं माना जा सकता। पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या उसकी पोल भली भाँति खोल चुके हैं। इन शिलालेखों पर पूर्णतया विश्वास कदापि नहीं किया जा सकता, जब तक उनके फोटो न छापे जायँ, क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि किसी अंध पक्षपाती ने उनमें २ के स्थल पर ३ बनवा दिया है।

(४) पृथ्वीराज के परवानों पर जो मोहर है, उससे उसके सिंहासन पर बैठने का समय ११२२ विदित होता है।

यह भी चद के दिए हुए समय से मिलता है। रासो के दिल्ली दान-समय में लिखा है—

एकादस संवतः अट्ठ अग्ग हत तीस भने।
प्रथ सुरित तहाँ हेम सुद्ध मगसिर सुमास गने ॥
सेत पक्ख पंचमीय सकल वासर गुर पूरन।
सुदि मृगसिर सम इन्द जोग सद्धहि सिध चूरन ॥
पहु अनगपाल अप्पिय पहुमि पुत्तिय पुत्त पवित्त मन।
छंड्यो सुमोह सुष तन तरुनि पत्ति बद्री सज्जे सरन ॥

तो अब चंद के अनुसार अनंगपाल ने अपने दौहित्र को राजसिंहासन शुद्ध मन से ११३०-८—११२२ की मार्गशीर्ष सुदी ५ को दिया। इससे संभव है कि पृथ्वीराज गद्दी पर वैशाख सुदी ३ संवत् ११२२ को बैठा हो।

इन परवानों और पट्टों की सत्यता के संबंध में रा० ब० पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने बड़ा संदेह प्रकट किया है तथा उन्हें सर्वथा जाली बताया है। अनंद विक्रम संवत् की कल्पना को भी उन्होंने निर्मूल ठहराया है। कुछ फारसी शब्दों के प्रयोग पर भी आक्षेप किया है, पर इस बात पर विचार करना चाहिए कि दिल्ली में एक सेना मुसलमानी योद्धाओं की सदा रहती थी और वहाँ लाहौर के मुसलमानी दर्बार से दूतों का आना जाना सदा लगा रहता था, क्योंकि दोनों राज्यों की सीमा मिली हुई थी और पृथ्वीराज के १०० वर्ष पहले से मुसलमानी राज्य पंजाब में स्थापित हो चुका था।

कर्नल टॉड लिखते हैं कि राहुत से लक्ष्मणसिंह के बीच में ९ राजा चित्तौर की गद्दी पर बैठे और थोड़े थोड़े दिनों तक राज करके सब सुरधाम को सिधारे। इन ९ राजाओं में से ६ लड़ाई में मारे गये। इन सबों ने गया को मुसलमानों से रक्षित रखने के लिये अपने प्राण दिए। पृथ्वीपाल ने इन मुसलमानों को डरा दिया और अलाउद्दीन के पूर्व तक वे अपने जघन्य कर्म से पराङ्मुख रहे। अब इससे भुवनसिंह का समय १२८० ई० के लगभग होता है और लक्ष्मणसिंह का उससे कुछ पीछे। उससे यह संभव जान पड़ता है कि वह रतनसी नहीं था, जिसकी स्त्री प्रसिद्ध सुंदरी पदमावती के लिये अलाउद्दीन ने चित्तौर का नाश किया, वरन् वह लक्ष्मणसिंह था, जिसका नाम अब तक इस संबंध में प्रचलित चला आता है। कविराजा श्यामलदासजी जिस शिलालेख को अपना पक्ष समर्थन करने के लिये उपस्थित करते हैं, वह ठीक नहीं माना जा सकता। पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या उसकी पोल भली भाँति खोल चुके हैं। इन शिला-लेखों पर पूर्णतया विश्वास कदापि नहीं किया जा सकता, जब तक उनके फोटो न छापे जायँ, क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि किसी अंध पक्षपाती ने उनमें २ के स्थल पर ३ बनवा दिया है।

(४) पृथ्वीराज के परवानों पर जो मोहर है, उससे उसके सिंहासन पर बैठने का समय ११२२ विदित होता है।

यह भी चद के दिए हुए समय से मिलता है। रासो के दिल्ली दान-समय में लिखा है—

एकादस संवत: अट्ठ अग्ग हत तीस भने।
प्रथ सुरित तहाँ हेम सुद्ध मगसिर सुमास गने॥
सेत पक्ख पंचमीय सकल बासर गुर पूरन।
सुदि मृगसिर सम इन्द जोग सद्धहि सिध चूरन॥
पहु अनगपाल अप्पिय पहुमि पुत्तिय पुत्त पवित्त मन।
छंड्यो सुमोह सुष तन तरुनि पत्ति बद्री सज्जे सरन॥

तो अब चंद के अनुसार अनंगपाल ने अपने दौहित्र को राजसिंहासन शुद्ध मन से ११३०-८–११२२ की मार्गशीर्ष सुदी ५ को दिया। इससे संभव है कि पृथ्वीराज गद्दी पर वैशाख सुदी ३ संवत् ११२२ को बैठा हो।

इन परवानों और पट्टों की सत्यता के संबंध में रा० ब० पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने बड़ा संदेह प्रकट किया है तथा उन्हें सर्वथा जाली बताया है। अनंद विक्रम संवत् की कल्पना को भी उन्होंने निर्मूल ठहराया है। कुछ फारसी शब्दों के प्रयोग पर भी आक्षेप किया है, पर इस बात पर विचार करना चाहिए कि दिल्ली में एक सेना मुसलमानी योद्धाओं की सदा रहती थी और वहाँ लाहौर के मुसलमानी दर्बार से दूतों का आना जाना सदा लगा रहता था, क्योंकि दोनों राज्यों की सीमा मिली हुई थी और पृथ्वीराज के १०० वर्ष पहले से मुसलमानी राज्य पंजाब में स्थापित हो चुका था।

इस अवस्था में क्या यह आश्चर्य की बात है कि दिल्ली के रहनेवालों की भाषा में कुछ फारसी शब्द मिल गए हों ?

जो कुछ कहा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि चंद ने निज रासो में जो सन्, संवत् दिए हैं, वे अशुद्ध नहीं हैं, वरन् वे उस अब्द से ठीक मिलते हैं जो उस समय दर्बार के कागजों में प्रचलित था और प्रचलित विक्रम संवत् से ९०—९१ पूर्व था। इस नवीन अब्द का आभास हमें इस दोहे से मिलता है—

एकादस सै पंच दह विक्रम जिमि ध्रमसुत्त।
त्रितिय साक पृथिराज को लिख्यो विप्र गुन गुप्त ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जैसे युधिष्ठिर के ११५० वर्ष पीछे विक्रम का संवत् चला वैसे विक्रम के ११५० वर्ष पीछे मैं (चंद) पृथ्वीराज का संवत् चलाता हूँ। चंद पुनः लिखता है—

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भय पृथिराज नरिंद ॥

अब तक मेवाड़ में यह बात प्रसिद्ध है कि पूर्वकाल में दो विक्रम संवत् थे। कर्नल टॉड भी हरावतों के वर्णन में इस बात का उल्लेख करते हैं। अब तक "अनंद" शब्द का अर्थ "अनंद" "शुभ" लगाया जाता था, परंतु पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का कथन है कि इसका अर्थ "नंदरहित"

है, नंद के अर्थ नौ के हैं, क्योंकि "नव नंदा: प्रकीर्तिता:" ऐसा भागवत में लिखा है। "अ" का अर्थ हुआ शून्य। "अंकानां वामतो गति:" के अनुसार अनंद का अर्थ हुआ "९०" और इस संख्या को प्रचलित विक्रम संवत् में से घटा देने से चंद का संवत् निकल आता है। दूसरा अर्थ अनंद का यह है—मौर्यवंश का आदि राजा चंद्रगुप्त हुआ जो महानंद का दासी-पुत्र था। इस वंश के राजा नंदवंशीय कहलाते थे। संभव है, मेवाड़ के अभिमानी राजपूतों ने जान बूझकर इन राजाओं के काल की गणना न करने के उद्देश्य से प्रचलित विक्रम संवत् में से उनका राजत्वकाल घटा दिया और इस "अनंद विक्रम संवत्" का प्रचार किया हो। इन अर्थों के अतिरिक्त सबसे उपयुक्त एक दूसरी ही बात सूझती है जिसे मैं यहाँ लिख देना उचित समझता हूँ। यह बात इतिहास में प्रसिद्ध है कि कन्नौज का राजा जयचंद अपने को अनंगपाल का उत्तराधिकारी बताता था और कहता था कि दिल्ली की गद्दी पर बैठने का अधिकार मेरा है, न कि पृथ्वीराज का। इस कारण पृथ्वी-राज और जयचंद दोनों में परस्पर विवाद रहा और अंत में दोनों का नाश हुआ। कन्नौज के राजाओं ने जयचंद तक केवल ९०-९१ वर्ष राज्य किया था। अतएव आश्चर्य नहीं कि उनके राजत्वकाल को न गिनने के प्रयोजन से और उन्हें नंद-वंशियों के तुल्य मानने के अभिप्राय से इस नवीन संवत् का प्रचार किया गया हो।

इस अवस्था में क्या यह आश्चर्य की बात है कि दिल्ली के रहने-वालों की भाषा में कुछ फारसी शब्द मिल गए हों ?

जो कुछ कहा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि चंद ने निज रासो में जो सन्, संवत् दिए हैं, वे अशुद्ध नहीं हैं, वरन् वे उस अब्द से ठीक मिलते हैं जो उस समय दर्बार के कागजों में प्रचलित था और प्रचलित विक्रम संवत् से ९०—९१ पूर्व था। इस नवीन अब्द का आभास हमें इस दोहे से मिलता है—

एकादस सै पंच दह विक्रम जिमि ध्रमसुत्त।
त्रितिय साक पृथिराज को लिख्यो विप्र गुन गुप्त ॥

इसका तात्पर्य यह है कि जैसे युधिष्ठिर के ११५० वर्ष पीछे विक्रम का संवत् चला वैसे विक्रम के ११५० वर्ष पीछे मैं (चंद) पृथ्वीराज का संवत् चलाता हूँ। चंद पुनः लिखता है—

एकादस सै पंचदह विक्रम साक अनंद।
तिहि रिपुजय पुरहरन को भय पृथिराज नरिंद ॥

अब तक मेवाड़ में यह बात प्रसिद्ध है कि पूर्वकाल में दो विक्रम संवत् थे। कर्नल टॉड भी हरावतीं के वर्णन में इस बात का उल्लेख करते हैं। अब तक "अनंद" शब्द का अर्थ "अनंद" "शुभ" लगाया जाता था, परंतु पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या का कथन है कि इसका अर्थ "नंदरहित"

है, नंद के अर्थ नौ के हैं, क्योंकि "नव नंदा: प्रकीर्तिता:" ऐसा भागवत में लिखा है। "अ" का अर्थ हुआ शून्य। "अंकानां वामतो गति:" के अनुसार अनंद का अर्थ हुआ "९०" और इस संख्या को प्रचलित विक्रम संवत् में से घटा देने से चंद का संवत् निकल आता है। दूसरा अर्थ अनंद का यह है—मौर्यवंश का आदि राजा चंद्रगुप्त हुआ जो महानंद का दासी-पुत्र था। इस वंश के राजा नंदवंशीय कहलाते थे। संभव है, मेवाड़ के अभिमानी राजपूतों ने जान बूझकर इन राजाओं के काल की गणना न करने के उद्देश्य से प्रचलित विक्रम संवत् में से उनका राजत्वकाल घटा दिया और इस "अनंद विक्रम संवत्" का प्रचार किया हो। इन अर्थों के अतिरिक्त सबसे उपयुक्त एक दूसरी ही बात सूझती है जिसे मैं यहाँ लिख देना उचित समझता हूँ। यह बात इतिहास में प्रसिद्ध है कि कन्नौज का राजा जयचंद अपने को अनंगपाल का उत्तराधिकारी बताता था और कहता था कि दिल्ली की गद्दी पर बैठने का अधिकार मेरा है, न कि पृथ्वीराज का। इस कारण पृथ्वी-राज और जयचंद दोनों में परस्पर विवाद रहा और अंत में दोनों का नाश हुआ। कन्नौज के राजाओं ने जयचंद तक केवल ९०-९१ वर्ष राज्य किया था। अतएव आश्चर्य नहीं कि उनके राजत्वकाल को न गिनने के प्रयोजन से और उन्हें नंद-वंशियों के तुल्य मानने के अभिप्राय से इस नवीन संवत् का प्रचार किया गया हो।

जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है इससे स्पष्ट है कि चंद के संवत् कपोलकल्पित और असत्य नहीं हैं, तथा रासो में जो बातें लिखी गई हैं वे निरी गप्पें नहीं हैं। यह भी सिद्ध कर दिया गया है कि बारहवीं शताब्दी में मेवाड़ में दो संवतों का प्रचार था—एक सनंद और दूसरा अनंद विक्रम संवत् और दोनों में ९०-९१ वर्ष का अंतर था। अब यह बात स्वतः सिद्ध है कि चंद का रासो वास्तविक घटनाओं से पूरित महाकाव्य है, जैसे कि उस काल के ऐतिहासिक काव्य प्रायः सब देशों में मिलते हैं, और अब इसे झूठा सिद्ध करने का उद्योग केवल निरर्थक, निष्प्रयोजन तथा द्वेषपूर्ण माना जायगा। पृथ्वीराज और उसके सामंतों का चरित्र इँगलैंड के राजा आर्थर (King Arthur and his round table) से बहुत कुछ मिलता है। अस्तु, इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ सहस्रों मनुष्यों के हाथों में गया और सैकड़ों ने इसे लिखा है। इससे यदि आज हमको इसके पाठ में दोष या कहीं कहीं गड़बड़ अथवा क्षेपक मिलें, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इससे इस ग्रंथ के गुण और आदर में किसी प्रकार की अवहेलना नहीं होनी चाहिए।

———

(८) गोस्वामी तुलसीदास

हिंदी-साहित्य का इतिहास चार मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है—प्रारंभ काल, पूर्व मध्य काल, उत्तर मध्य काल और वर्तमान काल। प्रारंभ काल का आरंभ विक्रम संवत् १०५० के लगभग होता है, जब इस देश पर मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हो गए थे पर वे स्थायी रूप से यहाँ बसे नहीं थे। यह युग घोर संघर्षण और संग्राम का था और इसमें वीरगाथाओं तथा वीरगीतों ही की प्रधानता रही। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के समय में मुसलमानों के पैर इस देश में जमने लगे और उनका शासन नियमित रूप से आरंभ हो गया। चौदहवीं शताब्दी के अंत में मुसलमानी शासन ने दृढ़ता प्राप्त की। इसी के साथ हिंदी-साहित्य के इतिहास का पूर्व मध्य काल आरंभ होता है जो संवत् १३७५ से १६७५ तक रहा। यह तीन सौ वर्षों का समय मुसलमानों के पूर्ण अभ्युदय का था। इन तीन शताब्दियों में वे अपने वैभव और शक्ति के शिखर पर चढ़ गए। परंतु मुसलमानी राज्य की नींव धर्मांधता पर स्थित थी। उसका मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार और

आविर्भाव

जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है इससे स्पष्ट है कि चंद के संवत् कपोलकल्पित और असत्य नहीं हैं, तथा रासो में जो बातें लिखी गई हैं वे निरी गप्पें नहीं हैं। यह भी सिद्ध कर दिया गया है कि बारहवीं शताब्दी में मेवाड़ में दो संवतों का प्रचार था—एक सनंद और दूसरा अनंद विक्रम संवत् और दोनों में ९०-९१ वर्ष का अंतर था। अब यह बात स्वतः सिद्ध है कि चंद का रासो वास्तविक घटनाओं से पूरित महाकाव्य है, जैसे कि उस काल के ऐतिहासिक काव्य प्रायः सब देशों में मिलते हैं, और अब इसे झूठा सिद्ध करने का उद्योग केवल निरर्थक, निष्प्रयोजन तथा द्वेषपूर्ण माना जायगा। पृथ्वीराज और उसके सामंतों का चरित्र इँगलैंड के राजा आर्थर (King Arthur and his round table) से बहुत कुछ मिलता है। अस्तु, इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ सहस्रों मनुष्यों के हाथों में गया और सैकड़ों ने इसे लिखा है। इससे यदि आज हमको इसके पाठ में दोष या कहीं कहीं गड़बड़ अथवा क्षेपक मिले, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इससे इस ग्रंथ के गुण और आदर में किसी प्रकार की अवहेलना नहीं होनी चाहिए।

---

(८) गोस्वामी तुलसीदास

हिंदी-साहित्य का इतिहास चार मुख्य कालों में विभक्त किया जा सकता है—प्रारंभ काल, पूर्व मध्य काल, उत्तर मध्य काल और वर्तमान काल। प्रारंभ काल का आरंभ विक्रम संवत् १०५० के लगभग होता है, जब इस देश पर मुसलमानों के आक्रमण आरंभ हो गए थे पर वे स्थायी रूप से यहाँ बसे नहीं थे। यह युग घोर संघर्षण और संग्राम का था और इसमें वीरगाथाओं तथा वीरगीतों ही की प्रधानता रही। शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के समय में मुसलमानों के पैर इस देश में जमने लगे और उनका शासन नियमित रूप से आरंभ हो गया। चौदहवीं शताब्दी के अंत में मुसलमानी शासन ने दृढ़ता प्राप्त की। इसी के साथ हिंदी-साहित्य के इतिहास का पूर्व मध्य काल आरंभ होता है जो संवत् १३७५ से १६७५ तक रहा। यह तीन सौ वर्षों का समय मुसलमानों के पूर्ण अभ्युदय का था। इन तीन शताब्दियों में वे अपने वैभव और शक्ति के शिखर पर चढ़ गए। परंतु मुसलमानी राज्य की नींव धर्मांधता पर स्थित थी। उसका मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार और

आविर्भाव

प्रसार करना था। इस कारण इस काल के आरंभ में अन्य धर्मवालों पर घोर अत्याचार और अन्याय होते थे। धर्मांधता के कारण मुसलमान समझते थे कि हमारी एकता, शक्ति और संपत्ति का स्थायित्व हमारे धर्म पर ही निर्भर है। अतएव जितना ही हम उसका अनुकरण और प्रसारण करेंगे, उतनी ही हमारी उन्नति होगी। उनकी समझ में यह नहीं आता था कि घात से ही प्रतिघात भी होता है। छोटे से छोटे जीव भी दबाने से, अधिक दबाने से, सीमा से अधिक दबाने से, अपनी रक्षा के लिये अपने पीड़क पर अपना क्रोध प्रदर्शित करने तथा उन्हें दंड देने के लिये सिर उठाते हैं। हिंदुओं के लिये यह समय बड़ी विपत्ति का था। वे निरालंब, निराधार और निराश्रय हो रहे थे; उन्हें चारों ओर निराशा और अंधकार देख पड़ता था; कहीं से भी आशा और अवलंब की झलक नहीं देख पड़ती थी। ऐसे समय में भक्तिमार्ग के प्रतिपादक महात्माओं ने हिंदू भारतवर्ष की रक्षा की, उसे सहारा दिया और उसमें आशा का संचार कर उसे बचा लिया। इनमें से कुछ महात्माओं ने जो ईश्वर के निर्गुण रूप के उपासक थे हिंदुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने, उन्हें एक सूत्र में बाँधकर उनमें भ्रातृत्व भाव के संचार करने का उद्योग किया, पर इसमें उन्हें सफलता नहीं प्राप्त हुई। विजेता होने के कारण मुसलमान अहंमन्यता से मदांध हो रहे थे। हिंदुओं के लिये किसी ऐसे सगुणरूपधारी ईश्वर

की आवश्यकता थी जो दुष्टों का दमन करनेवाला, सुजनों की रक्षा करनेवाला, लोक-मर्यादा का स्थापित करनेवाला तथा मनुष्यों के लिये अनुकरणीय आदर्श चरित्रों का भांडार हो और जिसके चरित्र उसके गुणों के प्रत्यक्ष प्रदर्शक हों। पीछे के महात्माओं ने इस भाव की पूर्त्ति की और उनके धार्मिक विचारों तथा आदेशों ने हिंदुओं के हृदय पर स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया जो अब तक ज्यों का त्यों बना हुआ है। अतएव पूर्व मध्य काल के हिंदी-साहित्य का इतिहास विशेष कर भक्ति-मार्ग के प्रतिपादक महात्माओं की कृतियों का इतिहास है। ज्ञानमार्गी, रामभक्त और कृष्णभक्त तथा सूफी मत के अनुयायी, मुसलमान प्रेममार्गी भक्त—इन चार संप्रदायों ने भारतवर्ष की रक्षा ही नहीं की, वरन् उत्तर भारत के साधारण जीवन के प्रतिबिंब स्वरूप उसके साहित्य का अभ्युदय भी किया। हिंदी-साहित्य का तीसरा काल संवत् १६७५ से १८५० तक रहा। जहाँ इस काल में मुसलमानी राज्य का पूर्ण अभ्युदय हुआ, वहीं साथ ही साथ उसकी जड़ में घुन भी लग गया और अंत में औरंगजेब के उपरांत उसका समूल नाश भी हो गया, वैसे ही हिंदी-साहित्य भी उन्नति के शिखर पर पहुँचकर अलंकार के माया-जाल में ऐसा फँसा कि वह अपना सच्चा स्वरूप ही भूलकर अपनी आत्मा का तिरस्कार कर बाहरी ठाट-बाट और शारीरिक सजावट-बनावट में औरंगजेब के समय के मुसलमानी राज्य की भाँति लग गया। सच्ची कविता अपने उच्च आसन से नीचे गिर

पड़ी और अंत में उत्तर काल में एक प्रकार से विलीन हो गई। उत्तर काल में जो सं० १८५० से आरंभ होता है ब्रिटिशशासन की जड़ जमी, मुसलमानी अत्याचारों से साँस लेने का समय मिला, पूर्व और पश्चिम का सम्मेलन हुआ, आध्यात्मिकता और भौतिकता में घोर संग्राम आरंभ हुआ। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ कि भाव-विचारादि में परिवर्त्तन होने लगा। कविता-युग की समाप्ति होकर गद्य-युग का आरंभ हुआ। इस काल में साहित्य-सरिता नए वेग और नए जल से पूरित हो बहने लगी।

हिंदी-साहित्य के इतिहास का १४०० से १७०० तक का समय बड़ा ही विचित्र हुआ है। इन शताब्दियों में ही हिंदी ने उन कविरत्नों को उत्पन्न किया जिनके कारण उसका नाम चिरस्थायी हुआ है और वह देश-भाषाओं में ऊँचे आसन पर विराजने की अधिकारिणी हुई है। यदि हम भूमंडल के अधिकांश भाग के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो यह विदित होता है कि इसी समय में अनेक देशों ने अद्‌भुत उन्नति की है और ऐसे ऐसे लोगों को उत्पन्न किया है जो अपने अपने देशों के इतिहास पर अपनी अपनी छाप छोड़ गए हैं। यह समय भूमंडल में एक विचित्र, चिरस्थायी और उपकारी परिवर्त्तन करने में समर्थ हुआ है। भारतवर्ष में इस समय का मध्य अकबर के राजत्वकाल से आरंभ होता है। जो उन्नति हिंदी इस काल में कर सकी है वह अतुलनीय है।

इसी काल में सबसे प्रधान कवि गोस्वामी तुलसीदासजी हुए हैं। जितना प्रचार अब तक तुलसीदासजी के 'रामचरित-मानस' का भारतवर्ष के उत्तर खंड में बना हुआ है उतना और किसी ग्रंथ का कहीं भी आज तक नहीं हुआ। कहते हैं कि संसार में जितना प्रचार इंजील (बाइबिल) का है उतना और किसी ग्रंथ का नहीं। यह हो सकता है, पर तुलसीदासजी की रामायण का प्रचार भारतवर्ष में अपेक्षाकृत यदि अधिक नहीं तो कम भी नहीं है। क्या राजा, महाराजा, सेठ-साहूकार, दंडी, मुनि, साधु और क्या दीन हीन साधारण जन-समुदाय, सबमें उनके मानस का पूर्ण प्रचार है। बड़े बड़े विद्वान से लेकर निरक्षर भट्टाचार्य तक उनके मानस से अपने मानस की तृप्ति करते और अपनी अपनी विद्या बुद्धि के अनुसार उसका रसास्वादन कर अपने को परम कृतकृत्य मानते हैं। इस ग्रंथ-रत्न ने भारतवर्ष और विशेष कर उसके उत्तर भाग का बड़ा उपकार भी किया है। रीति, नीति, आचरण व्यवहार सब बातों में मानो तुलसीदास ही हिंदू प्रजामात्र के पथ-प्रदर्शक हैं। प्रत्येक विषय में उनके वाक्य उद्धृत किए जाते हैं और जन-साधारण के लिये धर्म-शास्त्र का काम देते हैं। न जाने इस ग्रंथ ने कितनों को डूबते से बचाया, कितनों को कुमार्ग पर जाने से रोका, कितनों के निराशामय जीवन में आशा का संचार किया, कितनों को घोर पाप से बचाकर पुण्य का संचय करने में लगाया और कितनों को धर्म-पथ

पर डगमगाते चलने में सहारा देकर सँभाला। कविता की दृष्टि से देखा जाय तो भी तुलसीदासजी का 'रामचरितमानस' उपमाओं और रूपकों का मानों भांडार है। चरित्र-चित्रण में भी वह बहुत बढ़ा चढ़ा है। परंतु क्या कारण है कि यह मानस ऐसे आदरणीय और श्लाघनीय आसन पर आसीन हो सका? सूरदास की कविता मधुरता में कम नहीं, केशवदास में पांडित्य की न्यूनता नहीं, बिहारी का अर्थ-गौरव और कहीं मिलता नहीं। फिर क्या कारण है कि तुलसीदास के सम्मुख इन कवियों की उपेक्षा की जाती है? कुछ लोग कहते हैं कि तुलसीदास में अनेक गुणों का समावेश है जो और कवियों में नहीं पाया जाता। इसी से उनकी चाह अधिक है। पर जन-साधारण तो इन गुणों की तुलना कर नहीं सकते। मेरी समझ में तुलसीदास की सर्व-प्रियता और मनोहरता का मुख्य कारण उनका चरित्र-चित्रण और मानवीय मनोविकारों का स्पष्टीकरण है। इन दोनों बातों में वे इस पृथ्वी के जीवधारियों को नहीं भूलते। उनके पात्र स्वर्ग के निवासी नही, पृथ्वी से असंपृक्त नहीं। उनके कार्य, उनके चरित्र, उनकी भावनाएँ, उनकी वासनाएँ, उनके विचार, उनके व्यवहार सब मानवीय हैं। वे सामा-जिक मर्यादा के अनन्य भक्त और अविचल संरक्षक हैं। यही कारण है कि वे मनुष्यों के मन में चुभ जाते, उन्हें प्रिय लगते और उन पर अपना प्रभाव डालते हैं। कभी कभी यह देखा

जाता है कि लेखक या कवि सर्वप्रियता प्राप्त करने के लिये अपने ऊँचे सिद्धांत से गिर जाता है, पाठकों में कुरुचि उत्पन्न करता और उनकी रक्षा करने की अपेक्षा उन्हें और भी गढ़े में ढकेल देता है। पर तुलसीदासजी अपने सिद्धांत पर सदा अटल रहते हैं, वे कहीं आगा पीछा नहीं करते। सदा सुरुचि उत्पन्न करते, सदुपदेश देते और सन्मार्ग पर लगाते हैं। यह कृतकार्यता कम नहीं। इसके लिये कोई भी गौरवान्वित हो सकता है। फिर तुलसीदासजी से महात्मा कवि और देशानुरागी का कहना ही क्या है! अस्तु, अब हम तुलसीदासजी की जीवन-संबंधिनी घटनाओं का उल्लेख करेंगे।

भाषा के कवि प्रायः लोभवश अपना और अपने आश्रयदाता का वृत्तांत अपने ग्रंथ में लिखा करते थे, परंतु गोसाईंजी ने मनुष्यों का चरित्र न लिखने का प्रण सा किया था; इसलिये उन्होंने अपना कुछ भी वृत्तांत नहीं लिखा। कहीं कहीं जो अपने चरित्र का आभास मात्र उन्होंने दिया भी है तो वह केवल अपनी दीनता और हीनता दिखलाने के लिये। किसी किसी ग्रंथ-निर्माण का समय भी उन्होंने लिख दिया है। इसलिये उनका चरित्र वर्णन करने के लिये मुख्यतः दूसरे ग्रंथों और किंवदंतियों का आश्रय लेना पड़ता है। सबसे प्रामाणिक वृत्तांत बतलानेवाला ग्रंथ वेणीमाधवदास-कृत गोसाईं-चरित्र है, जिसका उल्लेख बाबू शिवसिंह सेंगर ने अपने शिवसिंहसरोज में किया

जीवन-सामग्री

है। कवि वेणीमाधवदास पसका ग्राम-निवासी थे और गोसाईंजी के साथ सदा रहते थे। परंतु खेद का विषय है कि वह पूर्ण ग्रंथ नहीं मिलता है, केवल उसके अंतिम अध्याय का पता लगा है जिसमें गोसाईंजी का चरित्र संक्षेप में दिया है।

दूसरा ग्रंथ नाभाजी का "भक्तमाल" है। यह बात प्रसिद्ध है कि नाभाजी से और गोसाईंजी से वृंदावन में भेंट हुई थी। नाभाजी वैरागी थे और तुलसीदासजी स्मार्त्त वैष्णव, खाने पीने में संयम रखनेवाले, इसलिये पहले दोनों में न बनी; पीछे से तुलसीदास के विनीत स्वभाव को देख नाभाजी बहुत प्रसन्न हुए। अतः उनका लिखना भी बहुत कुछ ठीक हो सकता था, परतु उन्होंने चरित्र कुछ भी न लिखकर केवल गोसाईंजी की प्रशंसा में एक छप्पय लिख दिया है।

इस छप्पय से गोसाईंजी के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। भक्तमाल में उसके बनने का कोई समय नहीं दिया है; परंतु अनुमान से यह जान पड़ता है कि यह ग्रंथ संवत् १६४२ के पीछे और संवत् १६८० के पहले बना, क्योंकि गोस्वामी विट्ठलनाथजी के पुत्र गोस्वामी गिरधरजी का वर्णन उसमें वर्त्तमान क्रिया में किया है। गिरधरजी ने श्रीनाथजी की गद्दी की टिकैती, अपने पिता के परमधाम पधारने पर, संवत् १६४२ में पाई थी। इधर गोसाईं तुलसीदासजी का भी वर्तमान रहना जान पड़ता है, क्योंकि "राम-चरण-रस-मत्त

रहत अहनिसि व्रतधारी" इस पद से गोसाईंजी के जीते रहते ही भक्तमाल का बनना सिद्ध होता है। फिर यह प्रसिद्ध ही है कि गोसाईंजी का परलोक संवत् १६८० में हुआ। अतएव भक्तमाल के दिए हुए पद से केवल यह सिद्ध होता है कि भक्तमाल के बनने के समय (संवत् १६४२-१६८०) तुलसीदासजी वर्तमान थे।

तीसरा ग्रंथ भक्तमाल पर प्रियादासजी की टीका है। प्रियादासजी ने संवत् १७६९ में यह टीका नाभाजी की आज्ञा से बनाई थी, और जो सब चरित्र भक्त-महात्माओं के मुख से सुने थे उन्हें उन्होंने विस्तार के साथ लिखा है। प्रियादासजी ने गोसाईंजी का कुछ चरित्र लिखा है।

प्रियादासजी की टीका के आधार पर राजा प्रतापसिंह ने अपने "भक्त-कल्पद्रुम" और महाराज विश्वनाथसिंह ने अपने "भक्तमाल" में गोस्वामीजी के चरित्र लिखे हैं। डाक्टर ग्रिअर्सन ने गोस्वामीजी के विषय में जो नोट्स इंडियन एंटीक्वेरी में छपवाए हैं उनसे भी अनेक घटनाओं का पता लगता है।

मर्य्यादा पत्रिका की ज्येष्ठ १९६९ की संख्या में श्रीयुत इंद्रदेवनारायणजी ने 'हिंदी-नवरत्न' पर अपने विचार प्रकट करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी के जीवन-संबंध में अनेक बातें ऐसी कही हैं जो अब तक की निर्धारित बातों में बहुत उलटफेर कर देती हैं। इस लेख में गोस्वामी तुलसीदासजी के

एक नवीन "चरित्र" का वृत्तांत लिखा है और उससे उद्धरण भी दिए गए हैं। इस लेख में लिखा है—

"गोस्वामीजी का जीवनचरित उनके शिष्य महानुभाव महात्मा रघुवरदासजी ने लिखा है। इस ग्रंथ का नाम "तुलसीचरित्र" है। यह बड़ा ही बृहद् ग्रंथ है। इसके मुख्य चार खंड हैं—(१) अवध, (२) काशी, (३) नर्मदा और (४) मथुरा; इनमें भी अनेक उपखंड हैं। इस ग्रंथ की संख्या इस प्रकार लिखी हुई है—"चौ०—एक लाख तैंतीस हज़ारा, नौ सै बासठ छंद उदारा।" यह ग्रंथ महाभारत से कम नहीं है। इसमें गोस्वामीजी के जीवन-चरित-विषयक मुख्य मुख्य वृत्तांत नित्य प्रति के लिखे हुए हैं। इसकी कविता अत्यंत मधुर, सरल और मनोरंजक है। यह कहने में अत्युक्ति न होगी कि गोस्वामीजी के प्रिय शिष्य महात्मा रघुवरदासजी विरचित इस आदरणीय ग्रंथ की कविता श्रीरामचरितमानस के टक्कर की है और यह "तुलसीचरित्र" बड़े महत्त्व का ग्रंथ है। इससे प्राचीन समय की सभी बातों का विशेष परिज्ञान होता है। इस माननीय बृहद् ग्रंथ के 'अवध-खंड' में लिखा है कि जब श्रीगोस्वामीजी घर से विरक्त होकर निकले तब रास्ते में एक रघुनाथ नामक पंडित से भेंट हुई और गोस्वामीजी ने उनसे अपना सब वृत्तांत कहा।"

इस वृत्तांत का सारांश यह है कि सरयू नदी के उत्तर भागस्थ सरवार देश में मधौली से तेईस कोस पर कसेयाँ ग्राम

में गोस्वामी के प्रपितामह परशुराम मिश्र का जन्मस्थान था और यहीं के वे निवासी थे। एक बार वे तीर्थयात्रा के लिये घर से निकले और भ्रमण करते हुए चित्रकूट में पहुँचे। वहाँ हनुमानजी ने स्वप्न में आदेश दिया कि तुम राजापुर में निवास करो, तुम्हारी चौथी पीढ़ी में एक तपोनिधि मुनि का जन्म होगा। इस आदेश को पाकर परशुराम मिश्र सीतापुर में उस प्रांत के राजा के यहाँ गए और उन्होंने हनुमानजी की आज्ञा को यथातथ्य राजा से कहकर राजापुर में निवास करने की इच्छा प्रकट की। राजा इनको अत्यंत श्रेष्ठ विद्वान् जानकर अपने साथ तीखनपुर, अपनी राजधानी, में ले आए और बहुत सम्मान-पूर्वक उन्होंने राजापुर में उन्हें निवास कराया। उनके तिरसठ वर्ष की अवस्था तक कोई संतान नहीं हुई; इससे वे बहुत खिन्न होकर तीर्थयात्रा को गए तो पुनः चित्रकूट में स्वप्न हुआ और वे राजापुर लौट आए। उस समय राजा उनसे मिलने आया। तदनंतर इन्होंने राजापुर में शिव-शक्ति के उपासकों की आचरण-भ्रष्टता से दुःखित होकर वहाँ रहने की अनिच्छा प्रकट की; परंतु राजा ने इनके मत का अनुयायी होकर बड़े सम्मान-पूर्वक इनको रखा और भूमिदान दिया; परंतु इन्होंने उसे ग्रहण नहीं किया। इनके शिष्य मारवाड़ी बहुत थे; उन्हीं लोगों के द्वारा इनको धन, गृह और भूमि का लाभ हुआ। अंतकाल में काशी जाकर इन्होंने शरीर-त्याग किया। ये गाना के मिश्र थे और यज्ञ में गणेशजी का भाग पाते थे।

इनके पुत्र शंकर मिश्र हुए, जिनको वाक्सिद्धि प्राप्त थी। राजा और रानी तथा अन्यान्य राज्यवर्ग इनके शिष्य हुए और राजा से इन्हें बहुत भूमि मिली। इन्होंने दो विवाह किए। प्रथम से आठ पुत्र और दो कन्याएँ हुईं; दूसरे विवाह से दो पुत्र हुए—(१) संत मिश्र, (२) रुद्रनाथ मिश्र। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र हुए। सबसे बड़े मुरारि मिश्र थे। इन्हीं महा-भाग्यशाली महापुरुष के पुत्र गोस्वामीजी हुए।

गोस्वामीजी चार भाई थे। (१) गणपति, (२) महेश, (३) तुलाराम, (४) मंगल।

यही तुलाराम तत्त्वाचार्यवर्य भक्तचूड़ामणि गोस्वामीजी हैं। इनके कुल-गुरु तुलसीराम ने इनका नाम तुलाराम रखा था। गोस्वामीजी के दो बहिनें भी थीं। एक का नाम वाणी और दूसरी का विद्या था। गोस्वामीजी के तीन विवाह हुए थे। प्रथम स्त्री के मरने पर दूसरा विवाह हुआ और दूसरी स्त्री के मरने पर तीसरा। यह तीसरा विवाह कंचनपुर के लक्ष्मण उपाध्याय की पुत्री बुद्धिमती से हुआ। इस विवाह में इनके पिता ने छः हजार मुद्रा लिया था। इसी स्त्री के उपदेश से गोस्वामीजी विरक्त हुए।

इस ग्रंथ में दी हुई घटनाएँ और किसी ग्रंथ में नहीं मिलतीं। इसमें संदेह नहीं कि यदि यह चरित्र गोस्वामी तुलसीदासजी के शिष्य महात्मा रघुवरदासजी का लिखा है तो इसमें दी हुई घटनाएँ अवश्य प्रामाणिक मानी जायँगी। परंतु

जाँचने का अब तक सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। अतएव उसके विषय में निश्चित रूप से अभी कोई सम्मति नहीं दी जा सकती।

जन्म-समय

गोस्वामी तुलसीदासजी का जन्म-समय अभी तक निश्चित नहीं हुआ। पंडित रामगुलाम द्विवेदी की सुनी-सुनाई बातों के अनुसार उनका जन्म संवत् १५८९ में हुआ। इसे डा० ग्रिअर्सन ने भी माना है और मिश्रबंधु-विनोद में भी यही स्वीकार किया गया है। इसके विपरीत शिवसिंहसरोज में लिखा है कि वे संवत् १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे। पहले से गोसाईंजी की आयु ९१ और दूसरे से ९७ वर्ष आती है। बाबा वेनी-माधवदास ने मूल गोसाईं-चरित्र में लिखा है कि गोस्वामीजी का जन्म संवत् १५५४ के श्रावण मास की शुक्ला पंचमी को हुआ था।

श्रीयुत इंद्रदेवनारायणजी इस संबंध में लिखते हैं—"श्री-गोस्वामीजी की शिष्य-परंपरा की चौथी पुश्त में काशी-निवासी विद्वद्वर श्रीशिवलालजी पाठक हुए, जिन्होंने वाल्मीकीय रामायण पर संस्कृत-भाष्य तथा व्याकरणादि विषय पर भी अनेक ग्रंथ निर्माण किए हैं। उन्होंने रामचरितमानस पर भी मानस-मयंक नामक तिलक रचा है। उसमें लिखा है कि संवत् १५५४ में गोस्वामीजी प्रकट हुए और पाँच वर्ष की अवस्था में गुरु से कथा सुनी, पुनः चालीस वर्ष की अवस्था में संतों से भी वही कथा सुनी और उन्होंने सतहत्तरवें वर्ष के बाद

अठहत्तरवें वर्ष में रामचरितमानस की रचना आरंभ किया। उनकी अठहत्तरवें वर्ष की अवस्था संवत् १६३१ में थी और संवत् १६८० में वे परमधाम सिधारे। इस प्रकार १५५४ में ७७ जोड़ने से १६३१ संवत् हुआ। संवत् १५५४ वाँ साल मिलकर अठहत्तर वर्ष की अवस्था गोस्वामीजी की थी जब मानस आरंभ हुआ और १२७ वर्ष की दीर्घ आयु भोगकर गोस्वामीजी परमधाम सिधारे।" १२६-१२७ वर्ष की आयु होना कोई असंभव बात नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता कि महात्मा रघुवरदासजी ने अपने तुलसी-चरित्र में गोस्वामीजी के जन्म का कोई संवत् दिया है या नहीं। इस अवस्था में बाबा बेनी-माधवदास के कथन को प्रामाणिक मानकर उनकी दी हुई तिथि को गोस्वामीजी की निश्चित जन्म-तिथि मानना उचित होगा।

जन्म-स्थान

इनके जन्म-स्थान के विषय में भी बड़ा मतभेद है। कोई इनका जन्म तारी में बताता है। कोई हस्तिनापुर, कोई चित्रकूट के पास हाजीपुर और कोई बाँदा जिले में राजापुर को इनका जन्म-स्थान बतलाता है। बहुत से लोग तारी को प्रधानता देते हैं। परंतु पंडित रामगुलाम के मत से राजापुर ही इनका जन्म-स्थान है। शिवसिंहसरोज में इसी स्थान को माना है, तथा महात्मा रघुवरदासजी के लेख से भी यही प्रमाणित होता है। बाबा बेनीमाधवदास लिखते हैं कि यमुना के तट पर दुबे पुरवा नामक दूबों का एक गाँव था।

वहाँ सब जाति के लोग रहते थे। राजापुर राज्य के राजगुरु भी वहीं रहते थे। वही उस गाँव के मुखिया थे। उनके पुरुषा पतेजा (पत्योंजा) गाँव में रहते थे। इनके कुल का नाम झुरेखे पड़ गया था। इन्हीं के पुत्र तुलसीदास थे। इसके अतिरिक्त राजापुर में गोस्वामीजी की कुटी, मंदिर आदि हैं। अतएव इसमें संदेह नहीं कि गोस्वामीजी का जन्म राजापुर में हुआ।

कोई इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण और कोई सरयूपारी कहता है। राजा प्रतापसिंह ने भक्तकल्पद्रुम में इन्हें कान्यकुब्ज लिखा है, पर शिवसिंहसरोज में इन्हें सरयूपारी माना है। डाक्टर ग्रिअर्सन, पंडित रामगुलाम द्विवेदी के आधार पर, इन्हें पराशर गोत्र के सरयूपारी दूबे लिखते हैं। "तुलसी पराशर गोत दुबे पतिऔजा के" ऐसा प्रसिद्ध भी है। विनयपत्रिका में तुलसीदासजी स्वयं लिखते हैं—"दियो सुकुल जन्म सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।" पर यहाँ "सुकुल" से उत्तम कुल का अर्थ ही लगाना युक्ति-संगत जान पड़ता है।

बाबा बेनीमाधवदास ने स्पष्ट लिखा है कि वे पराशरगोत्रोत्पन्न सरयूपारीण ब्राह्मण थे।

गोस्वामीजी ने स्पष्ट रूप से कहीं अपने ग्रंथों में अपने माता-पिता का नाम नहीं लिखा है। लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि इनके पिता का नाम आत्माराम दूबे था और माता का हुलसी। आगे लिखा दोहा इसके प्रमाण में उद्धृत किया जाता है—

माता-पिता

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय।
गोद लिये हुलसी फिरै, तुलसी सो सुत होय॥

इस दोहे का उत्तरांश रहीम खानखाना का बनाया कहा जाता है। लोगों का कथन है कि इसमें "हुलसी" शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है, जिसका यह प्रमाण है कि इनकी माता का नाम हुलसी था। यह कथन केवल अनुमान है। इसकी पुष्टि और कहीं से नहीं होती। "तुलसीचरित्र" में लिखा है कि तुलसीदास ने स्वयं कहा है कि मेरे प्रपितामह परशुराम मिश्र थे, जिनके पुत्र शंकर मिश्र हुए। इनके दो पुत्र संत मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र हुए। रुद्रनाथ मिश्र के चार पुत्र हुए जिनमें सबसे बड़े मुरारि मिश्र थे। इन मुरारि मिश्र के चार पुत्र और दो कन्याएँ हुईं। पुत्रों के नाम गणपति, महेश, तुलाराम और मंगल और कन्याओं के वाणी और विद्या थे। ये तुलाराम हमारे चरित्रनायक गोस्वामी तुलसीदासजी हैं। बाबा बेनीमाधवदास ने इनकी माता का नाम तो हुलसी लिखा है पर पिता का नाम नहीं दिया है।

विनयपत्रिका में तुलसीदासजी स्वयं लिखते हैं—"राम को गुलाम नाम रामबोला राम राख्यो।" इससे इनका एक नाम रामबोला होना स्पष्ट है। पर तुलसीचरित्र में लिखा है कि इनके गुरु तुलसीराम थे जिन्होंने इनका नाम तुलसी रखा। पहले इनका नाम तुलाराम था, पीछे से अपनी दीनता दिखाने के लिये अथवा यों ही ये अपने को तुलसीदास कहने लगे।

बाबा बेनीमाधवदास लिखते हैं कि बारह मास के उपरान्त हुलसी के गर्भ से विचित्र ही बालक उत्पन्न हुआ। आकार में वह पाँच वर्ष के बालक के समान था। उसके दाँत निकल आये थे। जन्मते ही बालक रोया नहीं, केवल "राम" शब्द उसके मुँह से स्पष्ट निकला। इसी कारण उसका नाम "रामबोला" पड़ा। पीछे से इनका नाम तुलसीदास पड़ा।

कवितावली में तुलसीदासजी स्वयं लिखते हैं—'मातु-पिता जग जाइ तज्यो बिधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।' विनय-पत्रिका में भी तुलसीदासजी स्वयं कहते हैं—'जनक-जननि तज्यो जनमि करम बिनु बिधि सिरज्यो अवडेरे।' पुनः उसी ग्रंथ में वे लिखते हैं—'तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मात-पिता हूँ।' कुछ लोग अनुमान करते हैं कि तुलसीदास के माता-पिता के संबंध में भी कोई ऐसी ही घटना घटित हुई होगी जैसी कबीरदासजी के संबंध में प्रसिद्ध है। भारतवर्ष में ऐसी घटनाओं का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है पर केवल तुलसीदास के वाक्यों को खींचतान कर ऐसा अनुमान करना उचित नहीं है। पंडित सुधाकर द्विवेदी के आधार पर डाक्टर ग्रिअर्सन अनुमान करते हैं कि अभुक्त मूल में जन्म होने के कारण इनके माता-पिता ने इन्हें त्याग दिया था। मूल में जन्मे लड़कों को मूल-शांति और गोमुख-प्रसव-शांति भी शास्त्र के लेखानुसार होती है; कोई लड़के अनाथ की तरह छोड़ नहीं दिए जाते। इसलिये यह भी अनुमान किया जाता है कि या तो माता-पिता

ने इन्हें कबीरजी की तरह फेंक दिया हो, या इनके जन्म के पीछे ही उनकी मृत्यु हो गई हो। परंतु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। क्योंकि इनके जन्म लेते ही यदि माता-पिता मर जाते या उन्होंने इन्हें फेंक दिया होता तो तुलसीदासजी के कुल, वंश आदि का पता लगना कठिन होता। तुलसीचरित्र से यह स्पष्ट है कि तीसरे विवाह तक तुलसीदासजी अपने माता-पिता के साथ थे। तीसरा विवाह होने पर वे उनसे अलग हुए। दोनों बातें, अर्थात् तुलसीदासजी का स्वयं कथन और तुलसीचरित्र का विवरण, एक दूसरे के विपरीत पड़ती हैं और माता-पिता के छोड़ने की घटना को स्पष्ट नहीं करतीं। तुलसीदासजी के स्वयं कथन के अनुसार जन्म देकर माता-पिता ने उन्हें छोड़ दिया था और तुलसीचरित्र के अनुसार तीसरा ब्याह होने पर माता-पिता से वे विमुख हुए। दोनों कथनों में समानता इतनी ही है कि ये माता-पिता से अलग हुए, पर कब हुए ? इसमें दोनों कथनों में आकाश-पाताल का अंतर है। बाबा वेनीमाधवदास ने इस घटना का जो वर्णन किया है उससे सब प्रकार का संदेह दूर हो जाता है और तुलसी-दासजी ने अपने विषय में जो कहीं कहीं कुछ लिख दिया है उससे उसका सामंजस्य ठीक बैठ जाता है। उनका कहना है कि जब तुलसीदासजी के पिता को यह समाचार मिला कि नव-जात बालक के सब दाँत निकले हुए हैं और वह जन्मते रोया नहीं, तब वे बहुत घबड़ाए। गणितज्ञ ज्योतिषियों से उन्होंने

विचार कराया और बंधु बांधवों से सलाह ली। अंत में यह निर्णय हुआ कि यदि शिशु तीन दिन तक जीता रहे तो लौकिक और वैदिक संस्कार किये जायँ। परंतु एकादशी लगना ही चाहती थी कि माता हुलसी के प्राण अकुला उठे, उसे अपना अंत समय समीप सूझने लगा। उसे विश्वास होगया कि मेरे मरने पर बालक भी मर जायगा। उसने अपनी दासी मुनियाँ को अपने सब आभरण देकर कहा कि इस बालक को लेकर अपनी ससुराल चली जा और वहीं इसका पालन पोषण कीजिओ। मुनियाँ ने इस बात को मान लिया। वह बालक को लेकर चली गई और अपने ससुराल में रहकर उसका पालन पोषण करती रही। पर पाँच वर्ष और पाँच मास बीतने पर मुनियाँ को साँप ने डस लिया और वह परम धाम को सिधारी। अब राजापुर में राज-गुरु के पास सँदेसा भेजा गया। उन्होंने उत्तर दिया कि उस अभागे बालक को लेकर हम क्या करेंगे जो अपने पालनकर्ता का ही नाश कर डालता है। निदान बालक ज्यों त्यों कर अपना पेट भर लेता। अंत में नरहरिदास ने संवत् १५६१ में उसका उद्धार किया और उसे शिक्षा दीक्षा देकर सुयोग्य बनाया।

तुलसीदासजी रामायण में लिखते हैं—

मैं पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत।
गुरु
समुझी नहिं तसि बालपन, तब अति रहेउँ अचेत॥

तदपि कहा गुरु बारहिं बारा। समुझि परी कछु बुधि अनुसारा॥
भाषा बंध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध अस होई॥

परंतु गुरु का नाम उन्होंने कहीं नहीं दिया है। रामायण के आदि में मंगलाचरण में यह सोरठा लिखा है—

"वंदौं गुरुपद कंज, कृपासिंधु नर-रूप-हरि।
महा-मोह-तम-पुंज, जासु बचन रबि-कर--निकर॥"

इसी "नर-रूप-हरि" से लोगों ने निकाला है कि नरहरिदास इनके गुरु थे। नरहरिदास रामानंदजी की शिष्य-परपरा में थे। बाबा वेनीमाधवदास ने इनके गुरु का नाम नरहर्यानंद दिया है।

स्वामी रामानंदजी का समय संवत् १४५० के लगभग माना जाता है। इस हिसाब से नरहरिदासजी का सोलहवीं शताब्दी में होना संभव है।

यह प्रसिद्ध है कि इनका विवाह दीनबंधु पाठक की कन्या रत्नावली से हुआ था, जिससे तारक नामक एक पुत्र भी हुआ था, जो बचपन ही में मर गया। परंतु तुलसीचरित्र में लिखा है कि इनके तीन विवाह हुए थे—तीसरा विवाह कंचनपुर ग्राम के लछमन उपाध्याय की कन्या बुद्धिमती से हुआ था। इसी के उपदेश से गोस्वामीजी विरक्त हुए थे। विवाह आदि के संबंध में बाबा बेनीमाधवदास लिखते हैं कि जब तुलसीदासजी अपने गुरु नरहरिदास के साथ काशी आए तब पंचगंगा घाट पर स्वामी रामानंद के स्थान पर ठहरे। उसी घाट पर शरीर से जीर्ण पर मन से युवा महात्मा शेष सनातनजी रहते

विवाह, सन्तान और वैराग्य

थे। तुलसीदासजी की तीक्ष्ण बुद्धि पर वे रीझ गए। उन्होंने उन्हें चारों वेद, छहों दर्शन, इतिहास, पुराण और काव्य पढ़ाने के उद्देश से स्वामी नरहरिदास से माँग लिया। पंद्रह वर्ष तक ब्रह्मचारी रहकर तुलसीदासजी शेष सनातन के पास विद्या पढ़ते रहे। गुरुजी के परम पद प्राप्त होने पर उनकी अंत्येष्टि क्रिया कर वे राजापुर गए। वहाँ उन्होंने अपने घर को भग्नावशेष और निर्जन पाया। एक भाट से उन्हें पता चला कि उनके वंश में अब कोई नहीं बचा है। गोस्वामीजी ने अपना मकान बनवाकर वहीं रहने का विचार किया।

यमुना के दूसरे किनारे पर तारपिता नाम का एक गाँव है। वहाँ के रहनेवाले भारद्वाज गोत्रीय एक ब्राह्मण सकुटुंब यमद्वितीया का स्नान करने राजापुर आए। उन्हें भी तुलसी-दासजी ने रामकथा सुनाई। उन्होंने अपनी कन्या का विवाह तुलसीदासजी से करने की बात उठाई। पहले तो उन्होंने न माना, पर पीछे से बहुत दबाव देने पर उन्होंने स्वीकार कर लिया। संवत् १५८३ ज्येष्ठ सुदी १३ को विवाह हो गया। यह कन्या अत्यंत रूपवती थी। कहते हैं कि गोस्वामीजी इस स्त्री पर बहुत आसक्त हो गए। एक दिन स्त्री बिना कहे नैहर चली गई। गोसाईंजी से पत्नीवियोग न सहा गया, वहाँ जाकर वे स्त्री से मिले। स्त्री ने लजाकर ये दोहे कहे—

"लाज न लागत आपु को, दौरे आयहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को, कहा कहहुँ मैं नाथ॥
अस्थि-चरम-मय देह मम, तामैं जैसी प्रीति।
तैसी जौं श्रीराम महँ, होत न तौ भवभीति॥"

यह बात गोसाईंजी को ऐसी लगी कि वे वहाँ से सीधे काशी चले आए और विरक्त हो गए। स्त्री ने बहुत कुछ विनती की और भोजन करने को कहा, परन्तु उन्होंने एक न सुनी।

कहते हैं कि बहुत दिनों के पीछे वृद्धावस्था में एक दिन तुलसीदासजी चित्रकूट से लौटते समय अनजानते अपने ससुर के घर आकर टिके। उनकी स्त्री भी बूढ़ी हो गई थी। वह बिना पहचाने हुए ही उनके आतिथ्य-सत्कार में लगी और उसने चौका आदि लगा दिया। दो चार बात होने पर उसने पहचाना कि ये तो मेरे पति हैं। उसने इस बात को गुप्त रखा और उनका चरण धोना चाहा, पर उन्होंने धोने न दिया। पूजा के लिये उसने कपूर आदि ला देने को कहा, परंतु गोसाईंजी ने कहा कि यह सब मेरे झोले में साथ है। स्त्री की इच्छा हुई कि मैं भी इनके साथ रहती तो श्रीरामचंद्रजी और अपने पति की सेवा करके जन्म सुधारती। रात भर बहुत कुछ आगा पीछा सोच विचारकर उसने सबेरे अपने को गोसाईंजी के सामने प्रकट किया, और अपनी इच्छा कह सुनाई। गोसाईंजी ने उसको साथ लेना स्वीकार न किया, तब उसने कहा—

*खरिया खरी कपूर लौं, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, अचल करहु अनुराग॥

यह सुनते ही गोसाइँजी ने अपने झोले की वस्तुओं को ब्राह्मणों को बाँट दिया।

कुछ लोग यह भी अनुमान करते हैं कि तुलसीदासजी का विवाह ही नहीं हुआ था। क्योंकि उन्होंने विनयपत्रिका में लिखा है—"ब्याह न बरेखी जाति पाँति न चहत हौं।" परंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उनका विवाह हुआ ही नहीं था। यह कथन तो संसार की माया छोड़ कर वैरागी होने के पीछे का है। विवाह की कथा पहले पहल प्रियादासजी ने "भक्तमाल" की टीका में लिखी है। तभी से गोस्वामीजी के प्रत्येक जीवन-चरित्र में इसका उल्लेख होता आया है।

यात्रा

संवत् १५९० में गोस्वामीजी ने घर छोड़ा। वहाँ से पहले वे प्रयागराज पहुँचे। यहीं उन्होंने गृहस्थ वेष त्यागकर संन्यास लिया। यहाँ से वे अयोध्या गए और चार महीना वहाँ रहे। तदनंतर २५ पड़ाव में जगन्नाथपुरी पहुँचे। वहाँ से रामेश्वर और द्वारका होते हुए बदरीधाम पधारे। यहाँ से मानसरोवर और वहाँ से रूपाचल और नीलाचल पर्वत होते हुए पुनः मानसरोवर

---

* यह दोहा दोहावली में इस प्रकार है,—
खरिया खरी कपूर सब, उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै, बिमल बिबेक बिराग॥

पर लौट आए। इस प्रकार उन्होंने कैलास की प्रदक्षिणा की। इस यात्रा में १९ वर्ष १० मास और १७ दिन लगे।

इस यात्रा से लौटकर वे भववन में जाकर रहने लगे। वहाँ से चित्रकूट गए। यहाँ वे अनेक वर्षों तक रहे। इस अवसर में उनसे अनेक लोगों ने भेंट की जैसे दरियानंद स्वामी-नंदलाल, करुणेश, सदानंद, मुरारि, भगवंत, दिनेश, विभवानंद आदि। इसी स्थान पर संवत् १६१६ में सूरदासजी मिलने आए और यहीं मीराबाई का भेजा हुआ दूत गोस्वामीजी से मिला। संवत् १६२८ में यहीं रामगीतावली और कृष्णगीतावली बनी। इसके अनंतर गोस्वामीजी पुनः अयोध्या गए और वहाँ से काशी आए। यहाँ उन्होंने रामकथा लिखने का संकल्प किया और पुनः अयोध्या आकर और वहाँ कुछ दिन ठहरकर संवत् १६३१ में उन्होंने रामचरितमानस लिखना आरंभ किया तथा २ वर्ष ७ महीने में उसे समाप्त किया। इसके अनंतर वे पुनः काशी गए और वहीं रहने का विचार करने लगे। इस समय गोस्वामीजी की रामायण की बहुत प्रसिद्धि हो चुकी थी। लोग उसे बड़े चाव से पढ़ते थे। इस प्रसिद्धि के कारण कुछ लोगों में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वे तरह तरह से गोस्वामीजी को तंग करने लगे। अंत में इन लोगों के अत्याचारों से घबड़ाकर गोस्वामीजी काशी छोड़कर मिथिला जाने लगे, पर अपने मित्र टोडर के आग्रह पर काशी में अस्सीघाट पर रहने लगे। कुछ दिन ठहरकर वे मिथिला को

ओर चले गए और संवत् १६४० तक उधर ही घूमते रहे। संवत् १६४० में काशी लौट आए। यहाँ कुछ दिन ठहरकर पुनः अयोध्या, शूकरखेत, लखनऊ, मलिहाबाद, बिठूर, संडीले आदि स्थानों में होते हुए नैमिषारण्य में पहुँचे, वहाँ तीर्थों का उद्धार कर संवत् १६४९ में वृंदावन चले गए। वहाँ से अनेक स्थानों में घूमते हुए वे पुनः काशी चले आए और अंतकाल तक काशी ही में रहे।

यद्यपि पहले गोसाईंजी अयोध्या में आकर रहे थे, और चित्रकूट में भी प्रायः रहते थे, परन्तु अधिक निवास उनका काशी में होता था; और अंत में उन्हें काशीवास हुआ। काशी में चार स्थान गोसाईंजी के प्रसिद्ध हैं—

वासस्थान

१—अस्सी पर—तुलसीदासजी का घाट प्रसिद्ध है। इस स्थान पर गोसाईंजी के स्थापित हनुमानजी हैं और उनके मंदिर के बाहर बीसा यंत्र लिखा है जो पढ़ा नहीं जाता। यहाँ गोसाईंजी की गुफा है। यहाँ पर विशेष करके गोसाईंजी रहते थे, और अंत समय में भी यहीं थे।

२—गोपालमंदिर में—यहाँ श्रीमुकुंदरायजी के बाग के पश्चिम-दक्षिण के कोने में एक कोठरी है, यह तुलसीदासजी की बैठक के नाम से प्रसिद्ध है। यह सदा बंद रहती है, झरोखे में से लोग दर्शन करते हैं, केवल श्रावण सुदी ७ को खुलती है और लोग जाकर पूजा आदि करते हैं। यहाँ बैठकर

यदि सब "विनयपत्रिका" नहीं तो उसका कुछ अंश उन्होंने अवश्य लिखा था, क्योंकि यह स्थान बिंदुमाधवजी के निकट है और पंचगंगा, बिंदुमाधव का वर्णन गोसाईंजी ने विनयपत्रिका में पूरा पूरा किया है। बिंदुमाधवजी के अंग के चिह्नों का जो वर्णन गोसाईंजी ने किया है वह पुराने बिंदुमाधवजी से, जो अब एक गृहस्थ के यहाँ हैं, अविकल मिलता है।

३—प्रह्लादघाट पर।

४—संकटमोचन हनुमान्। यह हनुमान्‌जी नगवा के पास अस्सी के नाले पर गोसाईंजी के स्थापित हैं। कहते हैं कि प्रह्लादघाट के ज्योतिषी गंगारामजी ने जो राजा के यहाँ से द्रव्य पाया था उसमें से १२ हजार बहुत आग्रह से गोसाईंजी की भेंट किया। गोसाईंजी ने उससे बारह मूर्त्तियाँ श्रीहनुमान्‌जी की स्थापित की थीं, जिनमें से एक यह भी है।

पहला निवासस्थान हनुमान्-फाटक पर है। मुसलमानों के उपद्रव से वहाँ से उठकर वे गोपालमंदिर आए। वहाँ से भी वल्लभकुलवाले गोसाइँयों से विरोध हो जाने के कारण उठकर अस्सी आए और मरणपर्यंत वहीं रहे।

अस्सी पर आपने अपनी रामायण के अनुसार रामलीला आरंभ की। सबसे पुरानी रामलीला अस्सी ही की है। अस्सी के दक्षिण ओर कुछ दूर पर जो तुलसीदासजी की राम-लीला की लंका थी उस स्थान का नाम अब तक लंका है।

गोसाईंजी के मित्रों और स्नेहियों में अब्दुर्रहीम खानखाना, महाराज मानसिंह, मधुसूदन सरस्वती, नाभाजी आदि के नाम बताए जाते हैं। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि मीराबाई से इनका पत्र-व्यवहार हुआ था पर इनके समय में और मीराबाई के समय में इतना अंतर है कि यह बात सत्य नहीं मानी जा सकती। मधुसूदन सरस्वती ने, जो शैव थे, बाद में प्रसन्न होकर इनकी प्रशंसा में यह श्लोक बनाया था—

मित्र और स्नेही

आनंदकानने कश्चिज्जंगमस्तुलसीतरुः।
कवितामंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजी के अंतरंग मित्रों में टोडर नाम के एक जमींदार थे जो काशी में रहते थे। इनकी मृत्यु पर गोसाईंजी ने ये दोहे कहे थे—

चार गाँव को ठाकुरो मन को महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडर दीप॥
तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर काँधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
तुलसी उर थाला विमल टोडर गुनगन बाग।
ये दोउ नैनन सींचिहौं समुझि समुझि अनुराग॥
रामधाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच॥

टोडर की मृत्यु के अनंतर उनके लड़के और पोते में झगड़ा हुआ था। इसे गोसाईंजी ने निपटाया था। यह पंचनामा अब तक महाराज काशीराज के यहाँ रक्षित है।

चमत्कार

गोसाईंजी के संबंध में अनेक चमत्कार की बातें कही जाती हैं—(१) कहते हैं कि गोसाईंजी से एक प्रेत से साक्षात् हुआ था जिसने प्रसन्न होकर इन्हें हनुमान्‌जी से मिलने का उपाय बताया था। गोसाईंजी के उसके कहे अनुसार करने से उनकी हनुमान्‌जी से भेंट हुई और उनकी कृपा से इन्हें रामचंद्रजी के दर्शन हुए। (२) एक बार कई चोर गोसाईंजी के यहाँ चोरी करने गए। पर वहाँ पहरा पड़ रहा था इसलिये वे कृतकार्य न हो सके। दूसरे दिन उद्योग करने पर भी यही बात हुई। तब चोरों ने गोसाईंजो से पूछा कि आपके यहाँ कौन श्यामसुंदर बालक पहरा देता है। गोसाईंजी समझ गए कि यह मेरे इष्टदेव की कृपा है। यह समझ उन्होंने जो कुछ उनके पास था सब लुटा दिया जिसमें उनके स्वामी को कष्ट न हो। (३) एक स्त्री के पति को जिला देने का चमत्कार भी गोसाईंजी ने दिखाया था। (४) सबसे अद्भुत बात जो गोसाईंजी के चमत्कार के विषय में प्रसिद्ध है वह बादशाह के कैद करने की कथा है। कहते हैं कि मुर्दा जिलाने की बात बादशाह के कान तक पहुँची। उसने उन्हें बुला भेजा और कहा कि "कुछ करामात दिखलाइए।" इन्होंने कहा कि "मैं सिवा

रामनाम के और कोई करामात नहीं जानता।" बादशाह ने उन्हें कैद कर लिया और कहा कि "जब तक करामात न दिखाओगे, छूटने न पाओगे।" तुलसीदासजी ने हनुमान्‌जी की स्तुति की, हनुमान्‌जी ने अपनी वानरों की सेना से कोट को विध्वंस करना आरंभ किया, ऐसी दुर्गति की कि बादशाह आकर पैरों पर गिरा और बोला कि अब मेरी रक्षा कीजिए। तब फिर गोसाईंजी ने हनुमान्‌जी से प्रार्थना की और वानरों का उपद्रव कम हुआ। गोसाईंजी ने कहा कि अब इसमें हनुमान्‌जी का वास हो गया, इसलिये इसको छोड़ दो, नया कोट बनवाओ। बादशाह ने ऐसा ही किया। प्रियादासजी ने भी इस कथा को लिखा है और कहा है कि अब तक उसमें कोई नहीं रहता। परंतु जान पड़ता है कि दिल्ली के नये किले के बनने पर पुराने किले में वानरों के अधिक निवास करने और कोट को तहस-नहस कर देने से ही यह बात प्रसिद्ध हो गई है। यह भी संभव है कि जहाँगीर ने इन्हें बुलाया हो और कुछ दिनों कैद रखा हो। तुलसीदास की मृत्यु संवत् १६८० में हुई और बादशाह शाहजहाँ संवत् १६८५ में गद्दी पर बैठा और इसी ने नई दिल्ली (शाहजहानाबाद) बसाई और किला बनवाया। (५) यह भी प्रसिद्ध है कि गोसाईंजी एक समय वृंदावन गए। वहाँ किसी मंदिर में कृष्णमूर्त्ति के दर्शन कर उन्होंने यह दोहा कहा—

का बरनौं छबि आज की भले बिराजेउ नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बान लेउ हाथ ।।

कहते हैं कि इस पर कृष्णमूर्त्ति राममूर्त्ति हो गई।

यद्यपि जनश्रुति में यह बात प्रसिद्ध है कि मेघा भगत की रामलीला, जो अब काशी में चित्रकूट की लीला के नाम से प्रसिद्ध है, गोसाईं जी के पहले से होती थी, परंतु वर्तमान शैली की रामलीला, गोसाईं जी की रामायण गाकर, गोसाईं जी के ही समय से आरंभ हुई है। यह लीला अब तक अस्सी पर होती है और गोसाईं जी के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें और लीलाओं से एक बात की विलक्षणता यह है कि और लीलाओं में जो खर-दूषण की सेना निकलती है उसमें राक्षस विमान पर निकाले जाते हैं, पर यहाँ पर राक्षस—जैसा कि रामायण में लिखा है—भैंसे, घोड़े आदि पर निकलते हैं। इसकी लंका अब तक लंका के नाम से प्रसिद्ध है।

रामलीला और कृष्णलीला

रामलीला के अतिरिक्त गोसाईं जी कृष्णलीला भी कराते थे। उनके घाट पर अब तक कार्त्तिक कृष्ण ५ को "नाग-दमन" लीला बहुत सुंदर रीति से होती है।

मृत्यु

जहाँगीर सन् १६०५ (संवत् १६६२) में गद्दी पर बैठा और सन् १६२७ (संवत् १६८४) में उसकी मृत्यु हुई। इसके राजत्वकाल में सन् १६१६ (संवत् १६७३) में पंजाब में महामारी (प्लेग)

फैली और सन् १६१८ (संवत् १६७५) से ८ वर्ष तक आगरे में इसका प्रकोप रहा। तुजुक-जहाँगीरी में इसकी भीषणता का पूरा वर्णन है। आगरे में इससे १०० मनुष्य नित्य मरते थे। लोग घर द्वार छोड़कर भाग गए थे। मुर्दों को उठानेवाला कोई नहीं था। कोई किसी के पास नहीं जाता था।

हनुमान्बाहुक के ८८ वें कवित्त में तुलसीदासजी ने लिखा है—"बीसी विश्वनाथ की विषाद बड़ी बारानसी बूझिए न ऐसी गति शंकर-सहर की।" इससे यह सिद्ध होता है कि इस समय रुद्रबीसी थी। ज्योतिष की गणना के अनुसार यह समय संवत् १६६५ से १६८५ तक का है।

कवित्त ६४ में तुलसीदासजी काशी में महामारी होने का वर्णन इस प्रकार करते हैं—"शंकर-सहर सर नर-नारि बारि-चर बिलक सकल महामारी माँजा भई है। उछरत, उतरात, हहरात, मरि जात, भभरि भगात जल थल मीचु-मई है। देव न दयाल, महिपाल न कृपाल चित्त, बारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है। पाहि रघुराज, पाहि कपिराज रामदूत, राम हूँ की बिगरी तुही सुधारि लई है॥"

इससे स्पष्ट है कि संवत् १६६५ और १६८५ के बीच में काशी में महामारी का उपद्रव हुआ था। यह समय पंजाब और आगरे में उसके प्रकोप-काल से, जो ऊपर दिया है, मिलता है।

कवित्त ५ में तुलसीदासजी लिखते हैं—

एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
बेद धर्म दूरि गए, भूमिचोर भूप भए
साधु सीद्यमान जानि रीति पाप-पीन की॥
दूबरे को दूसरो न द्वार, राम दयाधाम
रावरीई गति बल-बिभव-बिहीन की।
लागैगी पै लाज विराजमान बिरुदहिं
महाराज आजु जो न देत दादि दीन की॥

इससे यह प्रकट है कि जिस समय का यह वर्णन है उस समय मीन के शनैश्चर थे। गणना के अनुसार मीन के शनैश्चर संवत् १६६९ से १६७१ तक हुए थे। अतएव यह संभव जान पड़ता है कि काशी में महामारी का प्रकोप उसके आगरे में फैलने के ४-५ वर्ष पहले हुआ था। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि सत्रहवीं शताब्दी के अंतिम चतुर्थांश में काशी में प्लेग फैला हुआ था।

हनुमान्बाहुक के कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं जिससे यह विदित होगा कि तुलसीदासजी को महामारी रोग हो गया था।

'साहसी समीर के दुलारे रघुबीरजी के, बाँहपीर महाबीर बेगही निवारए' ॥ २१ ॥ 'बात तरुमूल, बाहुसूल, कपिकच्छु बेलि उपजी, सकेलि, कपि खेलही उपारिए' ॥ २५ ॥ 'आन

हनुमान की, दोहाई बलवान की, सपथ महाबीर की जो रहे पीर बाँह की' ।। २७ ।। 'आपने ही पाप तें त्रिताप तें कि साप तें बढ़ी है बाहु बेदन कही न सहि जाति है' ।। ३१ ।। 'पाँय-पीर पेट-पीर बाहु-पीर मुँह-पीर जरजर सकल सरीर पीरमई है' ।। ३८ ।। 'भारी पीर दुसह सरीर तें बिहाल होत सोऊ रघुबीर बिनु सकै दूरि करि को' ।। ४३ ।।

अंतिम कवित्त यह है—

कहौं हनुमान सों, सुजान रामराय सों,
कृपानिधान शंकर सों, सावधान सुनिये ।
हरष विषाद राग रोष-गुन-दोषमई,
बिरची बिरंचि सब देखियत दुनिये ।।
माया जीव काल के, करम के, सुभाउ के,
करैया राम, बेद कहैं, ऐसी मन गुनिये ।
तुम तें कहा न होय हाहा सो बुझैये मोहिं,
हौंहूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिये ।।४३।।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि तुलसीदासजी की बाँह में पीड़ा प्रारंभ हुई, फिर कोख में गिलटी हुई। धीरे धीरे पीड़ा बढ़ती गई, ज्वर भी आने लगा, सारा शरीर पीड़ामय हो गया। अनेक उपाय किए; जंत्र, मंत्र, टोटका, औषधि, पूजापाठ सब कुछ किया पर किसी से कुछ लाभ न हुआ। बीमारी बढ़ती ही गई। सब तरह की प्रार्थना कर जब वे थक गये तब अंत में यही कहकर संतोष करते हैं कि जो बोया है सो काटते हैं। कवित्त ४३

बीमारी के बहुत बढ़ जाने और जीवन से निराश होने पर कहा गया था। ऐसा जान पड़ता है कि इसके अनंतर तुलसीदासजी गंगातट पर आ पड़े। वहाँ पर क्षेमकरी का दर्शन करके उन्होंने हनुमान्बाहुक का यह अंतिम छंद कहा था—

कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचंद सो चंदन होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चवै अवलोकत सोच बिचार हरी है॥
गौरी कि गंग बिहंगिनि वेष कि मंजुल मूरति मोद भरी है।
पेषु सपेम पयान समै सब सोच-बिमोचन छेमकरी है॥

इस छंद में "पेषु सपेम पयान समै" से स्पष्ट है कि यह छंद मरने के कुछ ही पूर्व कहा गया था।

कहते हैं कि तुलसीदासजी का अंतिम दोहा यह है—

रामनाम-जस बरनि कै, भयउ चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए, अब ही तुलसी सोन॥

इन सब बातों पर ध्यान देकर कुछ लोगों ने यह सिद्धांत निकाला है कि गोस्वामी तुलसीदासजी की मृत्यु काशी में प्लेग के कारण हुई।

पर हनुमान्बाहुक का ३६ वाँ कवित्त यह है—

घेरि लियो रोगनि कुजोगनि कुलोगनि ज्यौं
बासर जलद घनघटा धुकि धाई है।
बरखत बारि पीर जारिये जवासे जस
रोष बिनु दोष धूम-मूल मलिनाई है॥

करुनानिधन हनुमान महाबलवान
हेरि हँसि हाँकि फूँकि फौजैं तैं उड़ाई है।
खायो हुतो तुलसी कुरोग राँड राकसनि
केसरी-किसोर राखे बीर बरियाई है॥

इससे स्पष्ट है कि यद्यपि गोस्वामीजी को प्लेग हो गया था और उन्होंने उसके कारण बहुत कष्ट भी पाया था पर इस रोग से वे मुक्त हो गए थे। बाबा बेनीमाधवदास भी यही लिखते हैं।

गोस्वामीजी की मृत्यु के संबंध में यह दोहा प्रसिद्ध है—

संवत् सोरह सै असी, असीगंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

पर बाबा बेनीमाधवदास इस घटना का संवत् इस प्रकार देते हैं—

संवत् सोरह सै असी, असीगंग के तीर।
श्रावण कृष्णा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

यही तिथि उनके परलोकवास की ठीक जान पड़ती है, टोडर के वंश में अब तक श्रावण कृष्णा तीज को ही गोस्वामीजी के नाम पर एक सीधा दिया जाता है।

ग्रंथ

गोस्वामीजी के बनाए १४ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—१—गीतावली, २—कृष्णागीतावली, ३—कवित्तरामायण, ४—रामचरित-मानस वा रामायण, ५—विनयपत्रिका, ६—दोहावली, ७—सतसई, ८—रामलला नहछू, —जानकी मंगल, १०—पार्वती मंगल,

११—बरवै रामायण, १२—हनुमानूबाहुक, १३—वैराग्यसंदीपनी, १४—रामाज्ञा।

(१) गीतावली—यह व्रजभाषा में राग-रागिनियों में रची गई है। इसमें रामचरित का क्रमबद्ध वर्णन है। इसकी रचना सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की माधुर्यप्रधान गीत-शैली पर हुई है और उन्हीं के समान यह सरल और मनोहर है तथा भाषा की स्वाभाविक स्वच्छता विशेष रूप से देख पड़ती है। इसमें कोमल और करुण वृत्तियों की व्यंजना अत्यंत हृदय-ग्राहिणी है। बाललीला और राज्यश्री का वर्णन बड़ा मनोहर है। इस ग्रंथ की रचना संवत् १६२८ में हुई।

(२) कृष्णगीतावली—इसमें कृष्णचरित पर ६१ पद हैं। जैसे सूरदास ने रामचरित का वर्णन किया है वैसे ही तुलसीदास ने कृष्णचरित का भी वर्णन किया है परंतु दोनों को अपनी अपनी कृतियों में यथेष्ट सफलता नहीं प्राप्त हुई। इसकी रचना संवत् १६२८ में हुई।

(३) कवित्तरामायण—इस ग्रंथ में रामायण की कथा कवित्त, घनाक्षरी, सवैया और छप्पय छंदों में कही गई है। इस ग्रंथ की विशेषता यह है कि इसमें दिए हुए वर्णन बड़े ही ओजस्वी हैं। लंकादहन का वर्णन तो बड़ा ही अद्भुत हुआ है। इसका निर्माण १६२८ और १६३१ के बीच में हुआ।

(४) रामचरितमानस—इस ग्रंथ का आरंभ संवत् १६३१ में हुआ था। यह ग्रंथ हिंदी कविता का मुकुट है। एक तो

प्रबंधकाव्य के लिखनेवाले हिंदी में यों ही इने गिने कवि हुए हैं, पर उनमें भी कोई तुलसीदासजी के रामचरितमानस को नहीं पा सका है। भाषा इसकी सीधी सादी है, कविता का प्रवाह एक शांत गंभीर नदी के समान चला जाता है, कहीं उच्छृंखलता या मोड़ मोड़ाव नहीं पड़ता, चरित्रों का चित्रण ऐसा मनोहर हुआ है कि वे सजीव, चलते फिरते और स्पष्ट मर्त्यलोक के जान पड़ते हैं। यद्यपि सब चरित्र आदर्श रूप उपस्थित किए गए हैं पर कहीं भी हमको ऐसी कोई बात नहीं मिलती कि जिसके संबंध में हम यह कह सकें कि यह कृत्य मनुष्य की शक्ति के बाहर है। लोक-मर्यादा की स्थापना करने में इस ग्रंथ ने बड़ा काम किया है। सच बात तो यह है कि यह ग्रंथ हिंदुओं की अतुल संपत्ति का भांडार है और इसके कारण जगत् के साहित्य में हिंदी का सिर ऊँचा होता है।

(५) विनयपत्रिका—इसमें राग-रागिनियों में विनय के पदों का संग्रह है। मर्मज्ञों का यह कहना है कि इस ग्रंथ की रचना में गोसाईंजी ने अपनी कवित्वशक्ति की पराकाष्ठा कर दिखाई है। इनका अपरिमित पांडित्य, शब्द-भांडार, वाक्य-विन्यासपटुता, अर्थगौरव, उक्तिवैचित्र्य, इसमें पद पद पर झलकता है। यह ग्रंथ संवत् १६३५ के लगभग बना।

(६) दोहावली—इसमें ५७३ दोहों का संग्रह है जो भिन्न भिन्न विषयों पर कहे गए हैं। इसमें बहुत से दोहे ऐसे

हैं जिनका आशय समझने में कठिनता होती है। वे गोसाईंजी की प्रौढ़ता के प्रमाण हैं।

(७) सतसई—इसकी रचना संवत् १६४२ में हुई। उसमें स्वामीजी के चुने हुए दोहों का संग्रह है।

(८) रामलला नहछू—यह पूरबी अवधी में लिखा हुआ बीस तुकों के सोहर छंद में बड़ा ही सुंदर ग्रंथ है। इसमें यज्ञोपवीत के समय चारों भाइयों के नहछू का वर्णन है। यह संवत् १६४३ में बना।

(९) जानकी मंगल—इसमें जानकीजी के विवाह का वर्णन है। इस ग्रंथ की यह विशेषता है कि वह शुद्ध पूरबी अवधी में लिखा गया है। सोहर से छोटे छंद में शब्द-विन्यास ऐसा गठा हुआ है कि न तो शैथिल्य का कहीं नाम है और न कहीं एक शब्द का व्यर्थ प्रयोग किया गया है। यह ग्रंथ भी संवत् १६४३ में बना।

(१०) पार्वती मंगल—इसमें जानकी मंगल के ढंग पर शिवपार्वती का विवाह सोहर छंद में कहा गया है। यह ग्रंथ संवत् १६४३ में बना था।

(११) बरवै रामायण—ऐसा जान पड़ता है कि यह ग्रंथरूप में नहीं रचा गया। समय समय पर यथारुचि स्फुट बरवै बनाए गए थे जो पीछे से ग्रंथरूप में क्रमबद्ध किए गए और समस्त पुस्तक सात कांडों में विभक्त की गई। इसकी अवधी बड़ी ही मधुर और सुंदर है। इसका निर्माण संवत् १६३९ के लगभग हुआ।

(१२) हनुमानबाहुक—यह संवत् १६६९ और १६७१ के बीच में बना। इस ग्रंथ से तत्कालीन देशदशा तथा गोस्वामीजी के जीवन से संबंध रखनेवाली अनेक बातों का पता लगता है।

(१३) वैराग्यसंदीपनी—यह ग्रंथ दोहा चौपाई में संत महात्माओं के लक्षण, प्रशंसा और वैराग्य के उत्कर्ष-वर्णन में लिखा गया है। इसमें गोसाईंजी के विरक्त भावों का दिग्दर्शन होता है। इसका निर्माण संवत् १६७२ में हुआ।

(१४) रामाज्ञा—शकुन विचारने के लिए इसे गोसाईंजी ने अपने मित्र ज्योतिषी गंगाराम के लिए संवत् १६७२ में लिखा था।

गोस्वामीजी का महत्त्व

गोस्वामी तुलसीदासजी ने हिंदी-साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर इस भाषा के साहित्य को तो गौरवान्वित करके अमर किया ही परंतु साथ ही उन्होंने मत-मतांतर के झगड़ों को दूर कर समाज को एकता के सूत्र में पिरो दिया; यवनप्रेरित कठिन निराकार एकेश्वरवाद तथा आशिकी उपासना के ढंग के स्थान पर राम-रूपी सगुण, साकार ईश्वर को उपस्थित करके उन्होंने निर्मल प्रेम की छटा दिखलाई; केवल सद्‌गुरु के प्रसाद मात्र से सिद्ध हो जानेवाले ढोंगियों की पोल खोल दी और परकीया गोपियों तथा अनेक-स्त्री-भोगी कृष्ण के स्थान में आदर्श सती सीता और एकपत्नीव्रत राम का चरित्र चित्रण करके संसार को कल्याण का मार्ग दिखला दिया; इन्हीं चरित्रों के सहारे उन्होंने समाज से व्यक्तिगत उच्छृंखलता को दूर करने के लिये

लोकमर्यादा का सच्चा स्वरूप उपस्थित कर दिया; और निराश हिंदू-हृदय में दुष्टदलन अवतारी भगवान् की आशा दिला दी। अपने इष्टदेव रामचंद्रजी में उन्होंने शील और शक्ति का ऐसा सुंदर सम्मिश्रण किया है कि पढ़नेवाले या सुननेवाले के मन में उनके प्रति सहज ही भक्ति का स्रोत उमड़ने लगता है।

काव्य की दृष्टि से भी रामचरितमानस आदर्श है। प्रत्येक अलंकार के इसमें कई उत्तम उदाहरण हैं। अलंकार लाने ही के लिये अलंकारों का निरर्थक प्रयोग न करके गोस्वामीजी ने भाव को प्रदीप्त करने ही के लिये उनका उपयोग किया है। उनकी भावुकता भी हृदय-ग्राही है। रामवनगमन, चित्रकूट में राम-भरत-मिलाप, शबरी का आतिथ्य, लक्ष्मणशक्ति पर राम-विलाप, भरत-प्रतीक्षा इत्यादि पढ़कर हृदय मुग्ध हो जाता है।

रसों से मानस परिपूर्ण है। करुण रस में विशेष राम-वनगमन तथा भरत की आत्मग्लानि, रौद्र में उनका माता पर क्रोध, हास्य में नारद-मोह तथा लंका-दहन के पूर्व हनुमान्जी की पूँछ में कपड़े लपेटते समय राक्षस बालकों का ताली पीटना, भयानक और बीभत्स में लंकादहन, वीर में लंकाकांड, अद्भुत में हनुमानजी का पहाड़ लिए उड़ते जाना, उदासीन में सीता-त्याग पर सीताजी का लक्ष्मण को समझाना तथा मंथरा का प्रसिद्ध वाक्य "कोउ नृप होइ हमहि का हानी," चकपकाहट में रावण का कहना कि क्या राम ने वननिधि, नीरनिधि, जलनिधि इत्यादि बाँध लिया, और स्वयं अपने

उपहास में राम का कहना कि मृगी मृग को अभय कर रही हैं, "तुम आनंद करहु मृग जाए, कंचन मृग खोजन ये आये" उल्लेखनीय हैं।

तुलसीदासजी के चातक-प्रेम के समान उच्च, निःस्वार्थ और परोपकारी प्रेम का जोड़ ढूँढ़ निकालना कठिन है। यही स्वाभाविक निर्मल प्रेम ग्रामवासी नर-नारियों को तपस्वी भेष में राम, लक्ष्मण और सीताजी के प्रति हुआ था। दाम्पत्य प्रेम कैसा होना चाहिए, यह राम-सीता के प्रेम से सीखा जा सकता है, दूसरी जगह नहीं।

सच्चा संन्यासी वही हो सकता है जो गोस्वामीजी के बताए मार्ग पर अपने को स्थिर रख सके। पर यह बहुत कठिन और साथ ही अनावश्यक भी है, इसलिए लोगों को उनके लोकधर्म का आदर्श समझकर उसके अनुसार आचरण करना चाहिए। राजा को प्रजा की रक्षा और प्रजा को राजा की सहायता, भरत के समान भाई पर प्रेम, सच्चे ऋषियों का सम्मान, माता का आदर, पुत्री की पतिभक्ति देखकर जनक के समान पिताओं को हर्ष, एक ओर तपस्वी भेष में राम का भूमिशयन करना तो दूसरी ओर सीताजी का चित्रकूट में उनकी माताओं की सेवा कर उन्हें संतुष्ट करना, ब्राह्मणवर्ग तथा राजवर्ग का अन्योन्याश्रय सम्मान, केवट के दूर से प्रणाम करने पर ऋषि का उसे आलिंगन करना और वन्य कोल किरातों के प्रति राम का मृदुल व्यवहार इत्यादि ऐसे

आदर्श हैं कि जिनका अनुकरण कर हम आदर्श जीवन बिता सकते हैं।

सारांश यह कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने हिंदी भाषा-भाषियों का जो उपकार किया है उससे वे कभी मुक्त नहीं हो सकते। यदि तुलसीदास इस पवित्र भूमि में जन्म लेकर रामचरितमानस सा अमूल्य-संपत्ति-भांडार हमें न दे गए होते तो आज उत्तर भारत की क्या दशा हुई होती, इस बात का थोड़ा सा ध्यान कर लेने ही से उनके महत्त्व का ध्यान हो जायगा।